जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 11 • नवंबर, 2005

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • नवंबर, 2005 • अंक 11

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
महावीर दृष्टि : अहासुहं देवाणुप्पिया

14
एम. हिरियन्ना
भारतीय विचारधारा : विकास, विधियां और निष्कर्ष

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

21
आचार्यश्री तुलसी
भाव परिवर्तन का सूत्र : विनिवर्तना का संकल्प

25
चतरसिंह मेहता
निर्विकार चित्त—अमन की अवस्था

30
निर्मला डोसी
समण परंपरा : क्रांतिकारी प्रादुर्भाव

33
डॉ. बच्छराज दूगड़
विश्वशांति और समाज—तुलसी-दृष्टि

38
कहानी
वीरेंद्रकुमार जैन
अगम पंथ के सहचारी

44
कविता
नरेश मेहता की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
जीवन-ज्योति

शीलन

47
मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'
जितं जगत केन : मनोहियेन

54
बालकथा
प्रतिभानाथ
माफ करदो चिड़िया

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

मान्यता एक, स्पर्शना भिन्न-भिन्न

कुछ लोग कहते हैं—'साधु का धर्म भिन्न है और गृहस्थ का धर्म भिन्न है।'

तब स्वामीजी बोले—'चौथे गुणस्थान की और तेरहवें गुणस्थान की तत्त्व विषयक मान्यता तो एक है, किंतु उनकी स्पर्शना भिन्न-भिन्न है—चौथे का स्पर्श सम्यग्दृष्टि करता है और तेरहवें का स्पर्श केवली करता है। सचित्त जल में असंख्य जलीय जीव होते हैं और फफूंदी में अनंत जीव होते हैं, इसकी मान्यता एवं प्ररूपणा चौथे, पांचवें, छठे और तेरहवें गुणस्थान वाले सभी करते हैं। किंतु स्पर्शना में अंतर है—चौथे और पांचवें गुणस्थान वाले जल के जीवों की हिंसा करते हैं, और साधु के उन जीवों की हिंसा करने का त्याग होता है। यह स्पर्शना चौथे और पांचवें गुणस्थान से भिन्न है।

हिंसा में पाप होता है—उसकी मान्यता और प्ररूपणा चौथे, पांचवें, छठे और तेरहवें गुणस्थान वाले सभी करते हैं—इस दृष्टि से मान्यता तो एक है। किंतु चौथे और पांचवें गुणस्थान वाले हिंसा करते हैं और साधु के हिंसा का त्याग होता है—इस दृष्टि से उनकी स्पर्शना भिन्न-भिन्न है, पर मान्यता भिन्न नहीं।

चौथे और तेरहवें गुणस्थान वालों की मान्यता एक है। यदि चौथे गुणस्थान वालों की मान्यता तेरहवें गुणस्थान की मान्यता से भिन्न हो जाए, तो वह पहले गुणस्थान में चला जाए—मिथ्यादृष्टि हो जाए।

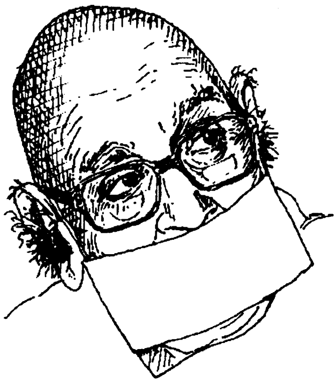

भारत एक ऐसा देश है, जहां भगवान महावीर के अनेकांत दर्शन को फलने-फूलने का मौका मिला है। अनेकांत लोकतंत्र की आधारशिला है। सापेक्षता, समानता, सहअस्तित्व और स्वतंत्रता अनेकांत के घटक तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर लोकतंत्र चल सकता है। लोकतंत्र में आस्था रखने वाले लोग अनेकांत दर्शन का उपयोग करें तो लोकतंत्र की सफलता में संदेह नहीं रहेगा।

वाणी और चिंतन की स्वतंत्रता का सीधा संबंध अहिंसा के साथ है। बाध्यता हिंसा है। दमन हिंसा है। देश के नागरिकों को सोचने और बोलने की स्वतंत्रता वहीं मिल सकती है, जहां अहिंसा का विश्वास है। सत्ता के विरोध में मुखर लोगों को भी जहां शांति से सहन किया जाता है, लोकतंत्र वहां सफल होता है। विरोधी स्वरों को कुचलने के लिए गोली की भाषा का प्रयोग सर्वथा अलोकतांत्रिक तरीका है। ऐसा तरीका जहां-कहीं अपनाया जाता है, वहां लोकतंत्र की निर्मम हत्या होती है।

—आचार्यश्री तुलसी

शरीर का स्वरूप और प्रकृति जैसी है, वैसी है। उसे उसी रूप में जानकर यह चिंतन करना कि उससे क्या लाभ उठाया जा सकता है—हर व्यक्ति के लिए बहुत जरूरी है। यह ठीक है कि सांसारिक प्राणी के लिए भोग से सर्वथा उपरत होना कठिन होता है, तथापि इस सचाई को तो हमें स्वीकार करना ही होगा कि भोग दुख का कारण है। उससे मात्र तात्कालिक, क्षणिक सुखाभास होता है, पर वस्तुतः वह दुख है। वास्तविक सुख भोग-विरति में है, संयम में है, त्याग में है। कितना सुंदर कहा गया है—

न हि राग समं दुःखं, न हि त्याग समं सुखम्।

अतः हर सुखेच्छु व्यक्ति को चाहिए कि वह इस शरीर का मात्र भोग में ही उपभोग न करे, अपितु एक सीमा तक योग में भी सदुपयोग करे। भोग पर योग और संयम का अंकुश रखे। इस सीमा तक की भोग-विरति भी उसे काफी अंश में दुखों से बचा सकती है। इस समझ के निर्माण में अशौच भावना की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

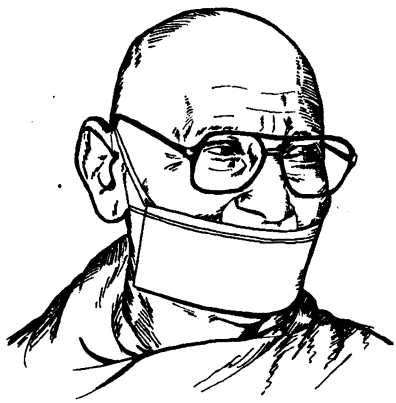

वाणी का अनुशासन यानी वचन पर हमारा अनुशासन। बहुत कठिन होता है वाणी पर अनुशासन करना। मौन का दिन है—मुंह से नहीं बोलेंगे। स्मृति आती है—क्या यह वाणी नहीं है? स्मृति भी वाणी है, अबोली भाषा है। भाषा के बिना स्मृति कैसे आएगी? कोई भी स्मृति शब्दातीत नहीं होती। चिंतन आता है, वह भी वाणी है। चिंतन भाषातीत नहीं है। शब्दों के बिना चिंतन नहीं होता, चिंतन भी एक वाणी है। कल्पना होती है, कल्पना कहां से आई? आकाश से टपक गई क्या? भाषा के माध्यम से ही तो होगी। आप बोल नहीं रहे हैं, मन में कल्पना का चक्र चल रहा है। बोल ही तो रहे हैं! यानी बहिर्जल्प नहीं हो रहा है, अंतर्जल्प हो रहा है। तर्कशास्त्र में दो प्रकार के जल्प होते हैं—अंतर्जल्प और बहिर्जल्प। आपका बहिर्जल्प नहीं है, किंतु अंतर्जल्प तो चल रहा है। आप सपना ले रहे हैं। क्या हो रहा है? बोल रहे हैं, सपने में भी भाषा है। वैज्ञानिक परीक्षण किए गए कि सपने के समय में भी मनुष्य का स्वरयंत्र सक्रिय होता है। स्वरयंत्र निष्क्रिय हो जाए तो फिर स्मृति नहीं हो सकती, कल्पना नहीं हो सकती, चिंतन नहीं हो सकता। यह सारी सक्रियता स्वरयंत्र की सक्रियता से ही हो सकती है। इसीलिए आपको निर्देश दिया जाता है कि विशुद्धि-केंद्र पर ध्यान केंद्रित करें, कंठ की प्रेक्षा करें। जैसे-जैसे इसके गूढ़ रहस्य आपकी समझ में आते जाएंगे, तब सही मूल्यांकन होगा कि हम क्या कर रहे हैं। जैसे-जैसे गहरे उतरेंगे, रहस्य को पकड़ेंगे, तब ज्ञात होगा कि कंठ को देखना कितना मूल्यवान होता है! जिस व्यक्ति ने कंठ पर कायोत्सर्ग करना सीख लिया, स्वरयंत्र शिथिल करना सीख लिया—उसने बहुत-सारी समस्याएं हल करली।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

जीवन-ज्योति

मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है? उसका जीवन-स्वरूप कैसा हो? इन दो बुनियादी प्रश्नों का उत्तर अनेक रूपों में हमारे सामने उपस्थित हुआ है। फिर भी लगता यही है कि ये सवाल अनुत्तरित हैं। समस्याओं की विकरालता पहले से कहीं अधिक घनीभूत है। मनुष्य के अपने ही हाथों से बुने जाल की जटिलता से वह न मुक्त हो पा रहा है और न सुलझाने के प्रयत्नों में सफलता मिल रही है। इस अवस्था में यदि कोई जीवन-ज्योति की बात करे तो इसे वाग्जाल कहा जा सकता है, लेकिन जटिलताओं में फंसे इस प्राणी की मुक्ति इसी में है कि वह अपने ही हाथों से बुने जटिलता के इस जाल को काटे और मुक्त हो जाए।

इस पहलू पर डॉ. संपूर्णानंद जैसे स्वनामधन्य विचारक स्पष्ट और सटीक मत प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं—'यदि समाज को ठीक तरह से चलाना है तो उसका संघटन किसी सिद्धांत के आधार पर होना चाहिए। राजनीति, अर्थनीति, दंडनीति, शिक्षा, आचार, अंतरराष्ट्रीय व्यवहार—सबको किसी एक आधार पर खड़ा करना चाहिए। यह आधार तब निश्चित हो सकता है, जब जगत का स्वरूप समझ लिया जाए। यह जगत क्या है? जगत में जीव का क्या स्थान है? जीव का स्वरूप क्या है? मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर पर ही समाज के संव्यूहन का आधार निश्चित किया जा सकता है और कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय हो सकता है।'

यह एक सुसंयोग है कि यह महीना (नवंबर मास) तमस से मुक्त होकर प्रकाश की ओर अग्रसर होने के प्रेरक दिवस दीपावली से शुरू हो रहा है। पहली नवंबर को दीपावली पर्व पर सदा की तरह हर घर-आंगन ज्योतिर्मय हो जाने वाला है। पर, यह प्रकाश जिस अंधकार को हरता है, इस बार हम वहीं तक सीमित न रहें। इस धर्म का निर्वाह तो हम करते ही हैं, लेकिन इससे कहीं अधिक गहरा, मूल्यवत्ता वाला, एक महत्तर धर्म हमें निभाना है—अंतस की ज्योति जगाकर। यही ज्योति जटिलताओं के जाल को काटकर हमें मुक्ति दे सकेगी। अंतस-ज्योति की रश्मियों की तेज धार से ही यह जाल काटा जा सकता है।

यह भी संयोग ही है कि श्रमण महावीर का निर्वाण (2 नवंबर) भी इसी माह में आता है। महावीर का निर्वाण भी हम कर्मकांडीय रूप से ही मनाते रहे हैं। पुण्य-स्मरण का यह सहज-सरल उपाय हमारे हाथ लग गया है और उनका कर्मकांडीय स्मरण कर हम अपना कर्तव्य पूरा हुआ मान लेते हैं। यह सब तो हम करेंगे ही, पर इससे थोड़ा हटकर महावीर के सिद्धांतों पर भी हमें गौर करने की जरूरत है। जरूरत है कि वे सिद्धांत हमारे विचार और व्यवहार में प्रकट हो जाएं। न कि जैसा डॉ. संपूर्णानंद कहते हैं, वैसा-भर चलता रहे। संपूर्णानंदजी एक कटु सत्य और कहते हैं—'लोग अपने को अवसरवादी कहना पसंद नहीं करते, परंतु उनके आचरण पुकार-पुकार कर उनके अवसरवादी होने का साक्ष्य देते हैं। अपना स्वार्थ एकमात्र लक्ष्य है, यदि दूसरे का हित उसकी तृप्ति में बाधक होता है तो उसे कुचल डालना होगा। इसका यह परिणाम है कि वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में कोई दृढ़ सूत्र मिलता ही नहीं। जैसा व्यवहार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ करता है, वैसा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ कर सकता है।' डॉ. संपूर्णानंद फिर एक गहरा व्यंग्य करते हैं और कहते हैं—'जो मनुष्य लाखों रुपए लगाकर औषधालय और धर्मशाला खोल सकता है, वही अपने कारखाने में काम करने वाले श्रमिक का रक्त चूस लेना बुरा नहीं समझता। जो अध्यापक विद्यार्थियों के चरित्र को शुद्ध करने के लिए नियुक्त किया गया है, वह रुपयों के लालच से झूठा इतिहास और समाजशास्त्र पढ़ाकर उनके चित्त में द्वेष और ईर्ष्या का विष भर देता है।' ये बातें हर मन को उद्वेलित तो करती हैं, पर इससे आगे बात नहीं बढ़ती। हमें अब इन सब पर विचार करना होगा।

इस नवंबर मास का एक तीसरा अनुपम सुयोग देखिए कि राष्ट्र-संत आचार्यश्री तुलसी का 92वां जन्मोत्सव (3 नवंबर) हम दीपोत्सव और महावीर परिनिर्वाण के साथ ही साथ मनाएंगे। आचार्य तुलसी की प्रखर आध्यात्मिक ऊर्जा से विश्रुत अणुव्रत आंदोलन पर हम गौर करें। मनीषी-विचारक डॉ. संपूर्णानंदजी जो शंकाएं प्रकट करते हैं, उनका उत्तर अणुव्रत आंदोलन देता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उन्नति के साथ आए विकास पर भी संपूर्णानंदजी गहरा संकेत करते हैं—'मनुष्य ने प्रकृति पर विजय पाई, परंतु धर्म-बुद्धि को विकसित करना भूल गया। परिणाम यह हुआ कि वह अपने ज्ञान को अपने संहार का साधन बना बैठा। विज्ञान की उन्नति ने यह संभव बना दिया कि प्रत्येक मनुष्य सुख से रह सके, परंतु जितना दैन्य, दारिद्र्य और दुख आज है, उतना स्यात् ही कभी रहा होगा।' विकास में समरसता रहे, प्रकृति का समतोल बिगड़े नहीं—इन पर विचार होना चाहिए।

देश की आजादी के तुरंत बाद महात्मा गांधी ने कांग्रेस को समाप्त कर 'लोक सेवक संघ' स्थापित करने की बात की थी। गांधी ने हर तरह की समस्या के उपाय सुझाए हैं। वे नहीं रहे, उनके बताए उपाय कंठ-हार की तरह हमें आकर्षित तो करते हैं, पर जीवन में अपनाने के लिए अभिप्रेरित होने का मुकाम बहुत कम उपलब्ध होता है। ऐसी ही अवस्था में आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन के जरिए उन कामों को करने की ठानी जो जीवन-ज्योति को स्फुरित कर सकें। अणुव्रत आंदोलन की प्रासंगिकता आज भी जरूरी मानी जा रही है, क्योंकि आज भी हालात बदले नहीं हैं।

हम महावीर के काल को अपने सामने रखकर सोचेंगे तो पाएंगे कि महावीर के सिद्धांत आज भी प्रासंगिक हैं। महावीर के काल में जो सामाजिक-सांस्कृतिक विषमताएं थीं, वे आज भी मुंह बाए खड़ी हैं। महावीर का निर्वाण हमें इनसे मुक्त होने की प्रेरणा देता है। निर्वाण का तात्पर्य ही मुक्ति है। ठीक इसी तरह आचार्यश्री तुलसी का जन्मोत्सव हमें प्रेरणा देता है। जन्म ही 'रचना' है, अपने समाज में हम ऐसी 'रचना' करें कि बर्बरता का विषदंत पूरी तरह निर्मूल हो जाए। मुक्ति और रचना का श्रेयस् रूप स्थापित करने में दीपोत्सव नवोन्मेष भर सकता है। इस माह के ये पर्व ऐसी अभीप्साएं मनुष्य-मन में जगाएं—वैसे उपक्रम हमें हाथ में लेने चाहिए। समाज का वह वर्ग, जो सचेत है, समर्थ है—ऐसे उत्तरदायित्वों को स्वीकार करे।

बाहर का अंधकार तो हर रोज ही पलायन करता है। अब तो अंतस को उजागर करने का निश्चय करना है। विषमताओं की विकरालता को अंतस का जागरण ही कम कर सकता है। अपने महापुरुषों के बताए रास्तों से हमें अपना मार्ग प्रशस्त करने में सहायता मिल सकती है। समय की चुनौतियों को पहचानना, परखना और उनकी जकड़ से मुक्त होने में अपनी शक्ति और ऊर्जा का विनियोग ही ऐसे पर्वों का अभीष्ट है। हमारी मेधा, हमारा चित्त और हमारा व्यवहार आलोकित हो, यही जीवन-ज्योति है।

—शुभू पटवा

विमर्श

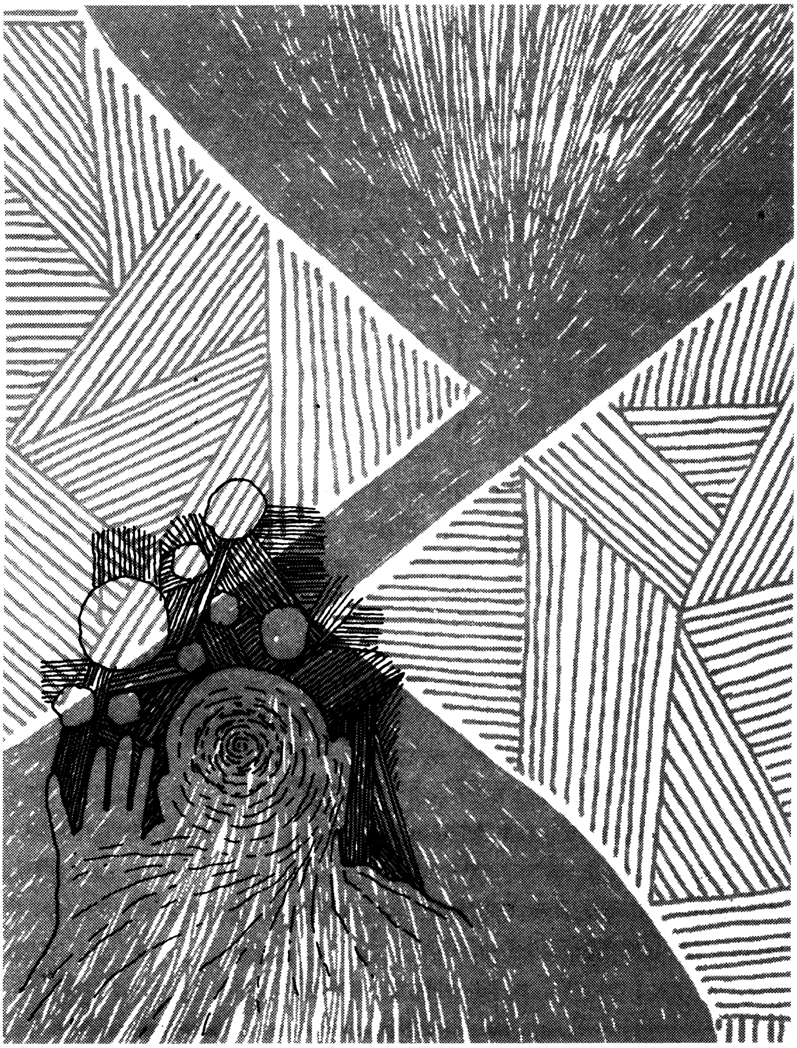

हम देख चुके हैं कि मनुष्य चाहे अर्थ और काम को ही लक्ष्य मानकर चला हो, परंतु ज्यों-ज्यों उसकी बुद्धि में यह बात बैठती जाती है कि धर्म के बिना अर्थ और काम सिद्ध नहीं हो सकते, त्यों-त्यों उसका ध्यान इनकी ओर से हटकर धर्म की ओर लग जाता है और क्रमशः धर्म साधन न रह कर साध्य बन जाता है। संस्कृत बुद्धि की यह पहिचान है। इसी प्रकार जब यह बात समझ में बैठ जाती है कि अज्ञान से छुटकारा पाए बिना धर्म का संपादन संभव नहीं है तो अज्ञाननिवृत्ति स्वयंसाध्य हो जाती है। इस स्थिति के उत्पन्न होने में और बातें भी सहायक होती हैं। जिज्ञासा हमारे चित्त का स्वाभाविक धर्म है। मैं क्या हूं? जगत् क्या है? मेरे सिवाय और भी चेतन व्यक्ति हैं या नहीं? इस प्रकार के प्रश्न चित्त में उठते हैं। इनके उत्तर जानने की उत्कट इच्छा होती है। वैयक्तिक और सामूहिक धर्म का पालन उसका व्यावहारिक परिणाम है। परंतु अज्ञाननिवृत्ति अर्थात् ज्ञान से जो एक अपूर्व आनंद और शांति की प्राप्ति होती है, वह उसका सबसे बड़ा फल है। जिस किसी को विज्ञान के अध्ययन के द्वारा कभी जगत् के रहस्य का थोड़ा-सा भी परिचय मिला होगा, उसको इस आनंद और शांति की एक झलक देख पड़ी होगी। अतः अज्ञान से छुटकारा पाना और ज्ञान के द्वारा जगत् के स्वरूप और अपने स्वरूप को पहिचानना मनुष्य का श्रेष्ठतम लक्ष्य होना चाहिए। इस पुरुषार्थ को मोक्ष कहते हैं।

—सम्पूर्णानन्द

महावीर दृष्टि : अहासुहं देवाणुप्पिया

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

स त्य की शोध के लिए भगवान महावीर ने एक पद्धति का अनुसंधान किया और उसका नाम दिया गया—अनेकांतवाद या स्याद्वाद। भारतीय दर्शन के प्रांगण में जैन, बौद्ध और वैदिक परंपरा में अनेक आचार्य हुए हैं, किंतु सत्य के संधान की पद्धति का जो सर्वांगीण निरूपण भगवान महावीर ने किया, वह सर्वत्र समादरणीय माना गया है। भगवान महावीर के इस निरूपण का मूल्य इसलिए है कि उन्होंने कहा—'सत्य को कहीं भी सीमित मत करो। संप्रदाय, जाति और वर्ग में सत्य को बांधो मत, उसे एक दृष्टि से मत देखो। जब तुम एक दृष्टि से सत्य को देखोगे तो तुम्हारा वह सत्य असत्य बन जाएगा। जब तुम सत्य को अनेक दृष्टियों से देखोगे तो तुम्हारा असत्य भी सत्य बन जाएगा।' असत्य को सत्य बनाने वाले लोग दुनिया में बहुत कम होते हैं और सत्य को असत्य बनाने वाले लोग दुनिया में बहुत होते हैं। भगवान महावीर का जीवन साधना का जीवन था। भगवान ने लंबे समय तक तपस्या की। उन्हें दीर्घतपस्वी कहा जाने लगा। तपस्या के बल से उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया। जो व्यक्ति सत्य को नहीं प्राप्त करता, उस के प्रति हमारी कोई श्रद्धा नहीं हो सकती। एक सत्य - जिज्ञासु के मन में उसके प्रति बहुत आदर का भाव नहीं हो सकता। भगवान ने सत्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया और सत्य ही उनके लिए परम-तत्त्व रहा। सत्य की जिज्ञासा उनमें प्रबल रूप में प्रज्वलित थी। महावीर और सत्य—ये दोनों शब्द जैसे पर्यायवाची बन गए। यदि महावीर में सत्य का आग्रह नहीं होता, तो वे वीर होते, किंतु उनका वीरत्व और पराक्रम दूसरों के संहार में खप जाता। महावीर का सारा पराक्रम, शक्ति और विक्रम सत्य की शोध में खपा, क्योंकि वे सत्यनिष्ठ थे। इसलिए उन्होंने कहा—सच्चंमि धिइं कुव्वहा—पुरुष! तू सत्य में धैर्य कर। यदि सत्य को पा लिया, तो तूने सब-कुछ पा लिया। यदि सत्य को नहीं पाया, तो तूने कुछ भी नहीं पाया। महावीर ने जो पद्धति हमारे सामने प्रस्तुत की, उसके द्वारा असत्य को भी सत्य बनाया जा सकता है; बशर्ते

❑ श्रमण महावीर परिनिर्वाण ❑
कार्तिक अमावस
(2 नवंबर)
—विनम्र श्रद्धांजलि—

' महावीर ने जो सिद्धांत दिए, वे किसी को लक्ष्य में रखकर नहीं दिए कि ये सिद्धांत अमुक वर्ग के हैं। सौभाग्य या दुर्भाग्य कुछ भी कहें, जो इतना व्यापक धर्म था, वह एक जाति के रूप में बदल गया, यानी 'जैन' एक जाति बन गई। जैन कोई जाति नहीं हो सकती। एक मुसलमान भी जैन हो सकता है, ईसाई भी जैन हो सकता है, हिंदू भी जैन हो सकता है। क्योंकि जैन कोई जाति नहीं है। आचार्य तुलसी बहुत बार कहते रहे कि 'जैन धर्म' को मैं 'जन धर्म' बनाना चाहता हूं। विनोबाजी ने एक बार बहुत सुंदर कहा था कि जैन धर्म अपने दया, अहिंसा, प्रेम और मैत्री को व्यापक बनाकर दूसरों में खप जाए तो भी कोई हानि नहीं होगी। यह बहुत सुंदर और गहरी बात थी। ये विश्वजनीन और सार्वजनीन सिद्धांत तथा इन्हें देखने की अनेकांत-दृष्टि—इस सारे संदर्भ में हम विचार करें तो लगेगा कि महावीर का धर्म बहुत व्यापक है। '

कि हमारा दृष्टिकोण व्यापक हो और हम वस्तु को विविध पहलुओं से देख सकें, परख सकें। इसीलिए महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म विश्वधर्म माना गया।

सर्वोदय शासन

वर्तमान समय के अनेक विचारक और दार्शनिक इस बात के लिए उत्सुक हैं कि दुनिया में एक धर्म होना चाहिए। महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उसके लिए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा—सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव—भगवन्! तुम्हारा शासन सर्वोदय है। विश्वधर्म वह हो सकता है, जो सबका उदय कर सके। जो सर्वोदय नहीं हो सकता, वह विश्वधर्म की योग्यता भी प्राप्त नहीं कर सकता। विश्वधर्म की योग्यता उसी में आ सकती है, जो किसी एक का नहीं है। यदि महावीर का धर्म केवल जैनों के लिए होता, तो उसमें विश्वधर्म होने की क्षमता नहीं होती। यदि महावीर का धर्म ओसवाल, अग्रवाल, खंडेलवाल आदि जातियों-भर के लिए है, तो विश्वधर्म होने की क्षमता उसमें नहीं है। महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उसमें जाति का कोई प्रतिबंध नहीं है।

सबका मार्ग

जंबूस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा—'कयरे मग्गे अक्खाए'—भंते! महावीर ने कौन-सा मार्ग बतलाया है, जिससे हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं, यह मैं जानना चाहता हूं।' महावीर के तत्त्वज्ञान के उस समय के सबसे बड़े प्रवक्ता सुधर्मास्वामी थे। उन्होंने शांतभाव से कहा—'जंबू! पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—ये छः प्रकार के जीव हैं। दुनिया में इनके अतिरिक्त कोई अन्य जीव नहीं। कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता। किसी को भी दुःख प्रिय नहीं है। हर प्राणी सुख चाहता है। इसलिए किसी भी जीव की हिंसा न की जाए। महावीर का यह मार्ग किसका नहीं है?'

क्या इस बात को अस्वीकार कर सकते हैं कि प्राणिमात्र के साथ अपनी आत्मानुभूति, तादात्म्य और एकात्मकता की स्थापना किए बिना हम धार्मिक हो सकते हैं? जब तक प्राणिमात्र के साथ हमारी एकात्मकता की अनुभूति नहीं होती, तब तक हमारे जीवन में धर्म का बीज अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित नहीं हो सकता। धार्मिक होने की पहली शर्त है कि प्राणिमात्र के साथ एकात्मकता की अनुभूति करें और उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करें। यह महावीर के द्वारा प्रतिपादित मार्ग है।

सुधर्मास्वामी से पूछा गया—महावीर ने धर्म का प्रतिपादन किसके लिए किया है? क्या अपने अनुयायियों के लिए? क्या जैनों के लिए या किसी अन्य वर्ग के लिए किया? इसका क्या उत्तर हो सकता है?

महावीर ने धर्म का जब प्रतिपादन किया, तब उनका कोई अनुयायी नहीं था। उनकी पहली सभा में, जिसमें उन्होंने धर्म का उपदेश दिया, कोई मनुष्य भी सुनने वाला नहीं था। उन्होंने जो सत्य देखा, उसका निरूपण कर दिया। किसके लिए किया? इसके उत्तर में कहा गया—भगवान ने किसी एक प्राणी के लिए धर्म का प्रतिपादन नहीं किया, किंतु कोई प्राणी किसी प्राणी को नहीं मारे—इसलिए भगवान ने धर्म का प्रतिपादन किया। धर्म का विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण है यह—उनका धर्म किसी वर्ग विशेष के लिए नहीं है। महावीर का धर्म उस व्यक्ति के लिए है, जो किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता और किसी भी जीव को पीड़ित नहीं करता। यह महावीर का धर्म, जिसे शाश्वत तथा व्यापक धर्म कह सकते हैं—कितना सर्वोदयी है?

कुलकर से राजतंत्र तक

वर्तमान युग में जितना मूल्यांकन स्वतंत्रता का हुआ है, शायद पिछले किसी भी युग में नहीं हुआ। हम आदिकाल को लें। आदिकाल में मनुष्य सामाजिक नहीं था, जंगल में रहता था। जब से वह सामाजिक बना और समाज में रहने लगा, कुलकर की पद्धति शुरू हुई। शासन कौटुंबिक व्यवस्था के रूप में चलता था। कुटुंब का मुखिया सब-कुछ होता था। वह यदि चाहता तो किसी को मार भी सकता था। उत्तराधिकार कुटुंब का चलता था। फिर उसका विकास हुआ, राजतंत्र आया। राजतंत्र में राजा को सर्वाधिकार दिया गया। उसे इतने अधिकार दिए गए कि राजा को ईश्वर का रूप और अवतार मान लिया गया। राजा जो चाहता, कर सकता था। उसे सब-कुछ करने का अधिकार था।

दास-प्रथा का युग

आरंभ के इतिहास से लेकर राजतंत्र के इतिहास तक स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं थी। स्वतंत्रता का कोई विशेष मूल्य नहीं था। हमारे यहां 'बेगार' ली जाती थी। एक बैल से जैसे काम लिया जाता है, उसी प्रकार आदमी से काम लिया जाता था। हिंदुस्तान में दासप्रथा चालू थी। आदमी आदमी को खरीद लेता था और दास बना लेता

था। आज के नौकर की दास से तुलना नहीं की जा सकती। अगर आप थोड़ी-सी आंख दिखाएं तो आज का नौकर नौकरी छोड़कर जा सकता है, किंतु दास नहीं जा सकता था। दास इतना अधीन होता था कि मालिक एक कुत्ते के साथ जैसा व्यवहार कर सकता है, वैसा वह दास के साथ कर सकता था। आज तो शायद वह कुत्ते को मार नहीं सकता, किंतु उस समय वह दास को मार सकता था। उसके नाक-कान काट लेता, जीभ निकाल लेता, जीभ पर शीशा उबालकर डाल देता। वह उसके टुकड़े-टुकड़े भी कर सकता था। एक आदमी दूसरे आदमी के साथ इतना क्रूर और निर्दय व्यवहार कर सकता था कि उसे कोई कहने वाला नहीं था। वह परतंत्रता की स्थिति थी। आदमी इतना परतंत्र था कि कुछ बोल भी नहीं सकता था।

आज पराधीनता समाप्त हो गई है। आज बड़े-से-बड़ा शासक भी खुला अत्याचार नहीं कर सकता। छिप कर करता है तो भी इतनी तीव्र आलोचना और भर्त्सना होती है कि उसे अपना त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ जाता है।

स्वतंत्रता पर बल

आज के जनतंत्र की विशेषता है—स्वतंत्रता। भारतीय साहित्य और इतिहास में स्वतंत्रता पर भगवान महावीर ने आरंभ से जितना बल दिया, मैं समझता हूं, उतना अन्यत्र कम मिलेगा। भगवान महावीर का मूल प्रतिपादन था—'पुढो सत्ता'—यानी हर व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है। तुम्हें दूसरे की स्वतंत्रता को कुचलने का कोई अधिकार नहीं है। बाप को यह अधिकार नहीं कि बेटे पर वह शासन करे। महावीर ने यहां तक कह दिया—आचार्य को भी शिष्य पर बल-प्रयोग से शासन करने का अधिकार नहीं है। तेरापंथ धर्मसंघ में 'इच्छाकारेण' का प्रयोग होता है। महावीर ने कहा—'आचार्य भी शिष्य के लिए 'इच्छाकार' का प्रयोग करे। तुम्हारी इच्छा हो तो यह काम करो, न कि तुम्हें यह करना पड़ेगा।' स्वतंत्रता को कितना मूल्य दिया गया है! एक व्यक्ति महावीर के पास आता और कहता—भगवान्! मैं यह काम करना चाहता हूं। आगम-सूत्रों में महावीर कहते हैं—'अहासुहं देवाणुप्पिया'—'देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो।' यह नहीं कहा गया—'तुम्हें यह काम करना पड़ेगा।' महावीर ने व्यक्ति की स्वतंत्रता, उसकी आत्मचेतना और उसके स्वतंत्र अस्तित्व को प्रदीप्त और प्रज्वलित करने में ऐसा वातावरण और अवसर दिया कि व्यक्ति अपने सहारे खड़ा हो सके। बैसाखी के सहारे लंगड़ाते हुए चलने का उन्होंने किसी को कभी प्रोत्साहन नही दिया।

महावीर की प्रमुख देन

स्वतंत्रता का घोष—जो महावीर ने उस समय किया—आज के जनतंत्र में क्रियान्वित हो रहा है। ऐतिहासिक वातावरण में कोई भी सिद्धांत, जो फलित होता है या चालू होता है, उसके पीछे वर्तमान की पृष्ठभूमि होती है। महावीर गणतंत्र के युग में जन्मे थे। वह वैशाली का गणराज्य था। वैशाली का गणराज्य आज के जनतंत्र जैसा नहीं था, फिर भी वहां स्वतंत्रता का वातावरण था। उनमें राजा कोई नहीं था। मुखिया थे महाराज चेटक। सभी सामंत मिल कर राज्य की व्यवस्था करते थे। एक व्यक्ति का शासन नहीं था। उन संस्कारों में पले महावीर ने जो संस्कार दिए, उनमें से उस राज्य को बल मिला, पुष्टि मिली और गणतंत्र का विकास हुआ। स्वतंत्रता महावीर की प्रमुख देन है।

समता धर्म का प्रतिपादन

महावीर ने दूसरी सबसे बड़ी बात समानता की दी। समता का विकास जितना महावीर के आस-पास हुआ और उन्होंने उस पर जितना बल दिया—वह बहुत ही स्मरणीय है। महावीर के धर्म का नाम क्या था? आज लोग कहते हैं—जैन धर्म। किंतु एक युग ऐसा था, जब जैन धर्म नाम नहीं था। पुराने साहित्य में जैन धर्म जैसा नाम नहीं मिलता। महावीर के धर्म का नाम था—सामायिक धर्म, समता का धर्म। सूत्रकृतांग सूत्र में बतलाया गया—'समया धम्म मुदाहरे मुणी'—महावीर ने समता धर्म का प्रतिपादन किया। उसी सूत्र में आगे बतलाया गया—एक चक्रवर्ती सम्राट दीक्षित होता है और एक चक्रवर्ती के दास का दास, उससे पहले दीक्षित हो जाता है—तो चक्रवर्ती का यह धर्म है कि अपने दास का दास, जो पहले दीक्षित हो चुका है—के चरणों में वह गिर जाए। वह यह नहीं सोचे कि मैं चक्रवर्ती इसका मालिक था और यह तो मेरे दास का भी दास था। यह सोचना विषमता की बात है। महावीर के शासन में ऐसा नहीं हो सकता। यह समता का प्रतिपादन सामायिक का प्रतिपादन है। कहा जा सकता है—जो समता को नहीं जानता, सामायिक को नहीं जानता, वह महावीर के शासन को नहीं जानता। धर्माचरण में सबसे पहला स्थान सामायिक का है। हर श्रावक के लिए विधान है कि वह सामायिक करे। साधु के लिए विधान है कि साधु वही हो सकता है, जो सामायिक करता है। मुझे नहीं मालूम कि समता की साधना करने वाली सामायिक कौन करता है या नहीं करता है। रूढ़ि तो चलती है। एक मुहूर्त के लिए बैठ जाते हैं, मुखवस्त्रिका बांध लेते हैं, हाथ में प्रमार्जिनी भी ले लेते हैं,

पर समता की आराधना कितनी करते हैं? इसका पता नहीं। श्रावक के लिए, हर जैन के लिए या महावीर को मानने वाले हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह कम से कम दिन में एक या दो बार समता की आराधना करे।

समता की वह आराधना आज शायद क्रियाकांड में बदल गई। उसका हार्द छूट गया। विषमता का भाव रखने वाला कोई भी महावीर के धर्म को समझने वाला नहीं कहा सकता।

कल्पातीत व्यक्तित्व की कल्पना

यह समतावादी दृष्टिकोण, जिस पर महावीर ने इतने विस्तार से विचार किया, गुरुदेव तुलसी ने इसे अपनी नई शैली में प्रतिपादित करना शुरू किया, उन विचारों को थोड़ा-सा मैंने भी लिखा। जब वह लेख छपा तो कई जैन बंधुओं में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि महाराज तो साम्यवादी हो गए। मुझे लगा कि क्या साम्यवाद महावीर के सिद्धांत तक पहुंच सकता है? क्या वहां समता की बात हो सकती है? समता की बात वहां हो सकती है, जहां प्रतिबंध नाम की कोई चीज न हो। कहा जा सकता है कि क्या साधु के लिए प्रतिबंध नहीं है? पर, यह ज्ञात होना चाहिए कि महावीर ने साधना की जो भूमिका प्रस्तुत की, उसमें एक शब्द का प्रयोग किया है—कल्पातीत। कल्पातीत यानी शासनविहीन राज्य, जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी। कल्पातीत के लिए कोई कल्प नहीं होता। हमारी साधना की एक वह स्थिति आती है, जहां शास्त्र की सारी मर्यादाएं समाप्त हो जाती हैं। हम लोग कोई काम करते हैं तो लोग कहते हैं कि शास्त्र में ऐसा लिखा है, किंतु कल्पातीत को कहने वाला नहीं है कि शास्त्र में ऐसा नहीं लिखा है। वह स्वयं शास्त्र होता है। कल्पातीत के लिए कोई वचन और नियम नहीं होता। सारी मर्यादाएं, विधान और अनुशासन समाप्त हो कर स्वयं के अनुशासन से स्वयं का संचालन होने लगता है। यह है—राज्यविहीन स्थिति। यह साधना की उत्कृष्ट भूमिका है। महावीर के सिद्धांत का, क्रिया का, आचार का, साधना की पद्धति का और उन्मुक्तता का जो विकास है, वह कल्पातीत की ओर जाने की प्रक्रिया है। इस प्रकार महावीर की दूसरी सबसे बड़ी बात थी—समानता।

प्रामाणिकता।

महावीर की तीसरी बात है—प्रामाणिकता। आज महावीर के धर्म को हमने भुला दिया। महावीर के अनुयाई और कुछ करते हैं या नहीं, पर महावीर की पूजा जरूर करते हैं। महावीर ने अपनी वाणी में कहीं भी शायद नहीं कहा कि किसी की पूजा करो। उपासना-धर्म का उन्होंने प्रतिपादन नहीं किया। उन्होंने केवल आचार-धर्म का, नीति-धर्म का प्रतिपादन किया।

यदि नैतिकता को, प्रामाणिकता और चरित्र को निकाल देंगे तो महावीर का धर्म ही समाप्त हो जाएगा। उपासना तो बहुत बाद में चली है। महावीर की वाणी को हमने देखा, किंतु आज तक एक भी वाक्य नहीं मिला कि उपासना की जाए या क्रियाकांड किए जाएं। केवल आचार-धर्म और चरित्र-धर्म ही वहां प्राप्त होता है। मोक्ष के तीन मार्ग बतलाए हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इनमें उपासना की बात कहां है? महावीर ने स्वतंत्रता, समानता और प्रामाणिकता—ये तीन ऐसे दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत किए, जिनके आधार पर महावीर के धर्म को विश्वधर्म का रूप दिया जा सकता है। उनका सारा प्रतिपादन सबके लिए था, विश्व के लिए था। उसमें कहीं भी कोई रेखा या भेद जैसी चीज नहीं थी।

विश्वजनीन सिद्धांत

महावीर ने जो सिद्धांत दिए, वे किसी को लक्ष्य में रखकर नहीं दिए कि ये सिद्धांत अमुक वर्ग के हैं। सौभाग्य या दुर्भाग्य कुछ भी कहें, जो इतना व्यापक धर्म था, वह एक जाति के रूप में बदल गया, यानी 'जैन' एक जाति बन गई। जैन कोई जाति नहीं हो सकती। एक मुसलमान भी जैन हो सकता है, ईसाई भी जैन हो सकता है, हिंदू भी जैन हो सकता है। क्योंकि जैन कोई जाति नहीं है। आचार्य तुलसी बहुत बार कहते रहे कि 'जैन धर्म' को मैं 'जन धर्म' बनाना चाहता हूं। विनोबाजी ने एक बार बहुत सुंदर कहा था कि जैन धर्म अपने दया, अहिंसा, प्रेम और मैत्री को व्यापक बनाकर दूसरों में खप जाए तो भी कोई हानि नहीं होगी। यह बहुत सुंदर और गहरी बात थी। ये विश्वजनीन और सार्वजनीन सिद्धांत तथा इन्हें देखने की अनेकांत-दृष्टि—इस सारे संदर्भ में हम विचार करें तो लगेगा कि महावीर का धर्म बहुत व्यापक है।

उदार दृष्टि

महावीर से पूछा गया—'भंते! क्या अन्यलिंगी यानी आपके शासन को नहीं मानने वाला, उससे बाहर का कोई भी साधु या संन्यासी मुक्त हो सकता है?'

महावीर ने कहा—'हो सकता है। यदि सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र आ जाए तो किसी भी शासन में रहकर वह मुक्त हो सकता है।'

महावीर से पूछा गया—'क्या मुक्त होने के लिए साधु होना जरूरी है? क्या कोई गृहस्थ के वेश में मुक्त नहीं हो सकता?'

महावीर ने कहा—'हो सकता है, यदि वास्तव में साधु बन जाए, चाहे वेश गृहस्थ का हो।' इसे 'गृहलिंगसिद्ध' कहा गया, यानी गृहस्थ वेश में सिद्ध होने वाला।

महावीर से पुनः पूछा गया—'भंते! क्या धर्म की विधिवत् उपासना करने वाला ही मुक्त होता है या और भी कोई मुक्त हो सकता है?'

उन्होंने कहा—'आत्मा की पवित्रता हो जाए तो विधि-विधानों की कोई जरूरत नहीं। इसके बिना भी मुक्त हो सकता है।' इस प्रकार से सिद्ध होने वाले को उन्होंने 'असोच्चाकेवली' कहा। 'असोच्चाकेवली' यानी अश्रुत्वा केवली। आप आश्चर्य करेंगे कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में धर्म का एक शब्द नहीं सुना, जो व्यक्ति नहीं जानता कि धर्म किसे कहते हैं, जो धर्म की व्याख्या और परिभाषा करना नहीं जानता, वह व्यक्ति अपने जीवन में मुक्त हो जाता है, केवली और सर्वज्ञ बन जाता है।

विश्वधर्म के प्रतिपादन की क्षमता

यह दृष्टि की उदारता है। यदि कोई संकीर्ण व्यक्ति होता तो कहता—गृहस्थ जीवन में मुक्त नहीं हो सकता। मेरे संप्रदाय के सिवाय दूसरे संप्रदाय में कोई मुक्त नहीं हो सकता और धर्म के विधि-विधानों, क्रियाकांडों को न करने वाला मुक्त नहीं हो सकता किंतु 'अन्नलिंगसिद्धे', 'गिहलिंगसिद्धे' और 'असोच्चाकेवली'—ये तीन शब्द इतने व्यापक हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि महावीर की वाणी में विश्वधर्म के प्रतिपादन की क्षमता है।

इतने विशाल, व्यापक और महान सिद्धांत के व्याख्याता, प्रवक्ता और अनुशास्ता भगवान महावीर हुए।

❖

समाज कोई दीवार नहीं है जिसे साधारण कारीगर चिन कर खड़ा कर देगा। समाज का संबंध ईंट और गारे से नहीं है, उसका संबंध मनुष्यों से है। पशु को भी सुधारने में समय लगता है। उसे नियंत्रित करना फिर भी सरल है, किंतु मनुष्य को सुधारना लोहे के चने चबाना है। मानव को सुधारने का अर्थ है—उसका हृदय-परिवर्तन करना। बांध बनाने, खान से हीरे निकालने से भौतिक संपत्ति तो बढ़ सकती है, किंतु समाज का उत्थान नहीं होगा। वह तो केवल तभी ऐश्वर्यवान बनेगा जब व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होगा—उसके नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का पालन होगा।

हम दिव्यता की एक रश्मि हैं, उसी की एक ज्योति-किरण हैं। जब हम सांसारिक कार्य में लगें, तब भी हमारे अंदर यही विचार रहना चाहिए कि वही (ईश्वर) अदृश्य रूप से हमारे अंतर मन में विद्यमान है और शरीर के पतन के बाद भी उसी में लय होना है। अतः हमारा शरीर से जो संबंध है, वह बस अस्थाई है, अनित्य है। हमारा परमधाम दूसरा है। नित्य तथा शाश्वत संबंध को बढ़ाते जाना तथा अनित्य और अस्थाई संबंध को घटाते जाना ही ब्रह्मज्ञान, साक्षात्कार तथा प्रत्येक योग का परिणाम है।

—स्वामी चिदानंद

भारतीय विचारधारा : विकास, विधियां और निष्कर्ष

एम. हिरियन्ना

> 'विभिन्न प्रमाणों के द्वारा प्राप्त परिणामों का सामान्य नाम 'दर्शन' है, जिसका अभिधार्थ 'दृष्टि' है। इसको इस बात का सूचक माना जा सकता है कि भारतीयों के चिंतन का लक्ष्य अंतिम सत्य का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करना नहीं, बल्कि उसका साक्षात् दर्शन करना था। इस तरह यह शब्द सामान्य भारतीय दर्शन की एक विलक्षणता को प्रकट करता है, जो यह है कि मनुष्य को बौद्धिक विश्वास मात्र से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, बल्कि उस विश्वास को प्रत्यक्ष अनुभव में परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी, अधिक संभाव्य यह लगता है कि यहां 'दर्शन' शब्द, इसके लिए कभी-कभी प्रयुक्त होने वाले समानार्थक 'दृष्टि' शब्द की तरह, 'दार्शनिक मत' का अर्थ रखता है।'

भारतीय विचारधारा को, जिसका विकास अधिकांशतः निष्कर्ष-प्रधान कहा जा सकता है और ये निष्कर्ष न्यूनाधिक रूप से निश्चित प्रक्रियाओं से प्राप्त हुए होंगे, जिनके बारे में हम बहुत कम जानते हैं। प्रस्तुत युग का दर्शन इस बात में भिन्न है और वह हमें न केवल निष्कर्ष प्रदान करता है, बल्कि वे विधियां भी प्रदान करता है जिनसे वह उन निष्कर्षों तक पहुंचा है। वास्तव में, इस युग में जिन अनेक दार्शनिक तंत्रों का विकास हुआ, उन्होंने अपने विशेष विषय की तब तक छानबीन शुरू नहीं की, जब तक पहले ज्ञान की मीमांसा नहीं कर ली और यह विचार नहीं कर लिया कि सत्य की प्राप्ति कैसे होती है। दूसरे शब्दों में, विकास के इस चरण में भारतीय दर्शन आत्मचेतन हो जाता है, और तर्कशास्त्र का उसकी एक पृथक् शाखा के रूप में उदय हो जाता है। इस परिवर्तन के ठीक-ठीक कारणों को ढूंढ़ पाना आसान नहीं है, लेकिन इतना स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म जैसे नास्तिक मतों के विकास और दृढ़ीकरण ने अवश्य ही इसमें काफी अंशदान किया होगा, विशेष रूप से इसलिए कि इनमें से कुछ ने अपने निष्कर्षों के एकांततः तर्क पर आधारित होने का दावा किया था। वाद-विवाद में पक्ष-प्रतिपक्ष को जिस बढ़ते हुए विरोध का सामना करना पड़ा, उससे प्रत्येक अपने मत को मजबूत करने के लिए मजबूर हो गया और इस दिशा में जो प्रयत्न किए गए, उन्हें ही इस युग के भारतीय दर्शन के सामान्य आलोचनात्मक स्वरूप के लिए उत्तरदाई मानना चाहिए।

दृष्टिकोण का यह परिवर्तन ही इस बात का कारण है कि अब निरपवाद रूप से सभी संप्रदाय प्रमाण-विचार पर विधिवत् ध्यान देने लगे। 'प्रमाण' शब्द का अर्थ है प्रमा, यानी यथार्थ ज्ञान, की प्राप्ति के आवश्यक साधन।[1] ज्ञान की वस्तु को 'प्रमेय' कहा गया है और ज्ञाता को 'प्रमाता'। प्रमाणों की प्रकृति और सीमाओं के बारे में अनेक मत हैं, लेकिन यहां उनके बारे में केवल एक या दो मोटी बातों की चर्चा की जाएगी। सामान्यतः प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द या आप्तवचन। प्रथम दो प्रमाणों की उपयोगिता सबने स्वीकार की है, लेकिन तीसरे के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष और अनुमान

के साथ-साथ प्रमाणों में इसको भी शामिल करना निश्चय ही भारतीय दर्शन की विशेषता है और इस पर संक्षेप में कुछ कहना जरूरी है। सबसे पहले शब्द के दो पक्षों में भेद कर देना चाहिए। जब हम कोई वाक्य सुनते हैं, तब कर्ण-मार्ग से हमारे मन में एक प्रभाव पैदा होता है। यह प्रत्यक्ष है और इस प्रत्यक्ष के बाद हमें ध्वनियों के एक अनुक्रम का बोध होता है। प्रमाण के रूप में शब्द का निश्चय ही यह अर्थ नहीं है। यह तो प्रमाण के बजाय एक प्रमेय है। लेकिन, शब्द का एक दूसरा व्यंजक पक्ष भी है और इसी रूप में यहां हम इसके बारे में सोच रहे हैं। जीवन में ज्ञान प्राप्ति के एक साधन के रूप में इसकी उपयोगिता के बारे में अत्युक्ति नहीं की जा सकती। जितनी भी अनेक बातें कोई व्यक्ति जानता है, उनका एक छोटा-सा अंश मात्र स्वयं देखकर या अनुमान करके उसे ज्ञात हुआ होता है। शेषांश के लिए वह पूर्णतः दूसरों के साक्ष्य पर निर्भर रहता है और वह उसे बोले गए या लिखे हुए शब्दों से प्राप्त होता है। परंतु, यह पूछा जा सकता है कि शब्द को एक स्वतंत्र प्रमाण बनाने के लिए क्या इतना पर्याप्त है? ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ेंगे, त्यों-त्यों देखते जाएंगे कि कुछ भारतीय विचारकों ने शब्द को वह तर्कशास्त्रीय महत्त्व देने से इनकार कर दिया जो इसे एक पृथक् प्रमाण मानने में गर्भित है। लेकिन यह तो शब्द को उससे अधिक विस्तृत अर्थ में ग्रहण करने से संबंधित बात है जो शुरू में समझा जाता था। प्रारंभ में इससे केवल परंपरा का बोध होता था[2] और कालांतर में इसका क्षेत्र इतना बढ़ा दिया गया कि सभी वाक्य, चाहे उनका प्राचीन विश्वास से संबंध हो या न हो, इसमें समाविष्ट हो गए। इस विस्तृत अर्थ में शब्द-प्रमाण पर विचार हम एक बार छोड़ देते हैं और केवल इसे परंपरा के वाहक मात्र के रूप में मान लेते हैं।

इस अर्थ में शब्द को प्रमाणों में शामिल करने का कारण तब समझ में आ जाएगा जब हम परंपरा से प्राप्त उस सामग्री की विशालता को ध्यान में लाएंगे जो प्रमाणों के विधिवत् विचार के समय तक इकट्ठी हो चुकी थी।[3] इसे शामिल करने के पीछे मुख्य विचार यह था कि दर्शन को इतिहास की देनों की उपेक्षा न हो। इससे यह भी प्रकट होता है कि उस काल में परंपरा को कितना महत्त्व और आदर दिया जाता था। परंतु, इससे यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि इन संप्रदायों के प्रवक्ताओं ने अविवेकपूर्वक भूतकाल से चले आनेवाले प्रत्येक विश्वास को, चाहे वह वेदमूलक ही हो, सही मानते हुए अपनी बुद्धि से निर्णय करना छोड़ दिया था। उस समय जो स्थिति थी, उसे देखते हुए ऐसा होना निश्चय ही असंभव था। एक ओर तो उस समय अतीत से चला आने वाला संपूर्ण जटिल वैदिक ज्ञान था; और दूसरी ओर नास्तिक विचारों का समूह था, जिसमें विभिन्न समुदायों में चलने वाले स्वतंत्र चिंतन के फलस्वरूप अत्यधिक वैविध्य था। इस प्रकार परंपरा के अंदर जो दर्शन मौजूद था, वह अधिकांशतः आंतरिक विरोध से पूर्ण था और इस बात की अत्यधिक आवश्यकता थी कि प्रत्येक मत के आंतरिक तत्त्वों की पारस्परिक संगति जांच ली जाए। इसके फलस्वरूप आस्तिक और नास्तिक—दोनों ने अपने परंपरागत विश्वासों की परीक्षा शुरू कर दी और उनकी संगतिपूर्ण व्याख्या करने की कोशिश की। इस तरह की व्याख्या में स्वतंत्र तर्कना बड़ी मात्रा में शामिल थी और भारतीय दर्शन में शब्द का मूल अर्थ हमें इसी तर्क-प्रधान छानबीन के फल को समझना चाहिए। अतः शब्द-प्रमाण सामान्य परंपरा नहीं, बल्कि व्यवस्थाबद्ध परंपरा है। उदाहरणार्थ, वैदिक ज्ञान की ऐसी ही व्यवस्थाबद्ध व्याख्या करना मीमांसा-दर्शन का मुख्य उद्देश्य था। यद्यपि दोनों ही वर्गों के विचारक परंपरा को दार्शनिक ज्ञान का स्रोत मानते हैं, तथापि उनके यह मानने के तरीकों में एक महत्त्वपूर्ण अंतर है। नास्तिकों की दृष्टि में यह परंपरा किसी भी अवस्था में पौरुषेय अनुभव की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती, और पौरुषेय अनुभव के अंदर वे न केवल उसे शामिल करते हैं जो प्रत्यक्ष और अनुमान से जाना जा सकता है, बल्कि उसे भी शामिल करते हैं जो इनसे भी ऊंचे प्रमाण—अंतर्दृष्टि या अंतःप्रज्ञा—जो भी नाम उसे दिया जाए—से ज्ञात होता है।[4] इस अर्थ में परंपरा का महत्त्व इस बात में नहीं है कि वह हमें मनुष्य के द्वारा न जानी जा सकने वाली किसी बात का ज्ञान देती है, बल्कि केवल इस बात में है कि वह हमें प्रत्यक्ष और तर्क मात्र से अज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान कराती है। दूसरे शब्दों में, परंपरा उन सत्यों का नाम है जो साधारण मनुष्य की पहुंच के परे हैं, किंतु आध्यात्मिक दृष्टि-संपन्न पुरुषों को जिनका साक्षात् प्रत्यक्ष हुआ है। इसके विपरीत, आस्तिकों के लिए परंपरा का अर्थ दिव्य प्रकाश है, जो बिलकुल दैवी यानी ईश्वर के मुख से निकलनेवाला ज्ञान तो नहीं है, पर जैसा कि हम सोचते हैं, एक या दूसरे अर्थ में अपौरुषेय है।[5] इस अंतर का अर्थ यह है कि नास्तिक संप्रदायों की दृष्टि में मानवीय अनुभव अपने अधिकतम विस्तृत रूप में संपूर्ण सत्ता को निःशेष कर देता है, जबकि आस्तिक संप्रदायों की दृष्टि में नहीं करता। आस्तिकों के अनुसार, मानवीय अनुभव प्रकृति को समझने के लिए पर्याप्त तो हो सकता है, पर प्रकृति स्वातीत है और किसी दूरस्थ चीज की ओर संकेत करती है,

जिससे अस्तित्व के उस अनुभवातीत क्षेत्र का जितना भी ज्ञान संभव है, उसकी प्राप्ति का एकमात्र उपाय 'श्रुति' को मानना पड़ता है। नास्तिकों के मत से ऐसे किसी क्षेत्र की बिलकुल भी सत्ता नहीं है और किसी चीज को मानवीय शक्तियों के परे मानना तथा उसको वास्तविक न मानना—दोनों एक ही बात हैं। इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक संप्रदायों में शब्द या परंपरा क्या चीज है—यह प्रश्न अंततः सामान्य दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रश्न में विलीन हो जाता है और उनकी सत्ता-विषयक धारणाओं में एक आधारभूत अंतर प्रकट करता है।

स्पष्ट है कि श्रुति को इस अर्थ में एक प्रमाण के रूप में स्वीकार करना खतरनाक है, क्योंकि इसके फलस्वरूप श्रुति के बहाने से किसी भी चीज में विश्वास का समर्थन किया जा सकता है। प्राचीन भारतवासी इस खतरे को समझता था और इसलिए उसने अपनी श्रुति की धारणा को अनेक शर्तें जोड़कर निरापद कर लिया था। इनसे प्रकट होता है कि आस्तिक समुदायों में श्रुति का ठीक क्या स्वरूप माना जाता था और इसका सामान्यतः अनुभव से और विशेषतः तर्क से क्या संबंध था : (1) इन शर्तों में से पहली यह है कि श्रुतिमूलक सत्य को नया या अलौकिक होना चाहिए, अर्थात् साधारण प्रमाणों से अप्राप्त और अप्राप्य होना चाहिए।[6] उदाहरणार्थ, ताप शीत को नष्ट करता है, यह दिखाने के लिए श्रुति का आश्रय नहीं लेना चाहिए, क्योंकि यह तो साधारण अनुभव की बात है।[7] स्पष्ट है कि श्रुति जो-कुछ भी जानकारी दे, वह हमारे अनुभव की भाषा में हो, अन्यथा वह समझ में नहीं आएगी और अपने प्रयोजन में सफल नहीं होगी।[8] शास्त्र भी अज्ञात का अज्ञात के माध्यम से ज्ञान नहीं करा सकता और इस प्रकार ऐसा नहीं हो सकता कि श्रुति का विषय मानवीय अनुभव से बिलकुल ही असंबद्ध हो। जब हम नवीनता की शर्त को इस तथ्य के साथ संयुक्त करते हैं कि अनुभवातीत सत्य जिस भाषा में व्यक्त हो वह अनिवार्यतः हमारी परिचित भाषा हो, तब हम देखते हैं कि श्रुति का विषय, कम-से-कम वहां तक, जहां तक दार्शनिक सत्य का संबंध है, नितांत नया नहीं हो सकता, बल्कि केवल हमारे अनुभव की व्याख्या का एक नया तरीका ही होगा। (2) दूसरी शर्त यह है कि श्रुति का विषय किसी अन्य प्रमाण के द्वारा बाधित न हो।[9] श्रुति के एक अंश का दूसरे से विरोध भी न हो। इसका अर्थ यह है कि श्रुति का विषय आंतरिक संगति से युक्त हो और वह तर्क से परे भले ही हो, पर तर्क-विरुद्ध न हो। श्रुति के प्रामाण्य को निश्चित करने के लिए शर्तों का बताया जाना स्वयं ही इस बात का सूचक है कि वह तर्क के विरुद्ध नहीं हो सकती। (3) श्रुति का तर्क से केवल इस प्रकार का निषेधात्मक संबंध ही हो, ऐसी बात नहीं है। एक तीसरी शर्त है, जो इस संबंध का विधानात्मक होना भी बताती है और वह यह है कि श्रुति जो कहती हो उसका तर्क से पूर्वाभास हो सके, अर्थात् श्रुतिमूलक सत्य संभाव्य लगे। यदि इस शर्त की नवीनता की पहली शर्त से संगति रखनी है तो इसे इस अर्थ में ग्रहण करना चाहिए कि विचाराधीन सत्य का अनुभव के क्षेत्र से ली गई मिलती-जुलती बातों से मोटा-सा अंदाज हो सके।[10] ये बातें श्रुतिमूलक सत्य को सिद्ध नहीं करतीं, फिर भी वे व्यर्थ नहीं हैं, क्योंकि विचाराधीन सत्य के बारे में यदि पहले से कोई असंभाव्यता महसूस हो तो वे उसे दूर करने का काम करती हैं।[11] श्रुति में—विशेषतः उपनिषदों में—हम प्रायः जो तर्क-प्रयोग देखते हैं, वह वेदवादियों द्वारा वास्तव में इसी कोटि का बताया गया है। उनके मत से तर्क स्वतः ऐसे सत्यों को जानने में असमर्थ है।[12] अधिक-से-अधिक उससे दो या अधिक समान रूप से सत्य प्रतीत होनेवाले निष्कर्ष प्राप्त हो सकते हैं[13] लेकिन श्रुति की सहायता के बिना संशय से बचना असंभव है। आत्मा का मृत्यु के बाद अस्तित्व वेद से ज्ञात सत्य का एक ऐसा उदाहरण है जो इन शर्तों को पूरा करता है। यह तर्क की पहुंच के परे है, पर साथ ही ऐसा भी है जिसमें कोई बात तर्क-विरुद्ध नहीं है। सावधानी के बतौर इन शर्तों को रखने के बावजूद भी यह मानना चाहिए कि इस रूप में परिभाषित श्रुति एक बाह्य प्रमाण ही है और यही आस्तिक संप्रदायों का इसके बारे में मत है।[14]

विभिन्न प्रमाणों के द्वारा प्राप्त परिणामों का सामान्य नाम 'दर्शन' है, जिसका अभिधार्थ 'दृष्टि' है। इसको इस बात का सूचक माना जा सकता है कि भारतीयों के चिंतन का लक्ष्य अंतिम सत्य का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करना नहीं, बल्कि उसका साक्षात् दर्शन करना था। इस तरह यह शब्द सामान्य भारतीय दर्शन की एक विलक्षणता को प्रकट करता है, जो यह है कि मनुष्य को बौद्धिक विश्वास मात्र से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, बल्कि उस विश्वास को प्रत्यक्ष अनुभव में परिणत करने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर भी, अधिक संभाव्य यह लगता है कि यहां 'दर्शन' शब्द, इसके लिए कभी-कभी प्रयुक्त होने वाले समानार्थक 'दृष्टि'[15] शब्द की तरह, 'दार्शनिक मत'[16] का अर्थ रखता है और चिंतन के अन्य संप्रदायों से पृथक् एक विशिष्ट संप्रदाय का द्योतक है। दार्शनिक मत के ऐसे संप्रदाय अनेक हैं। इनकी संख्या

सामान्यतः छः मानी जाती है, जो ये हैं—गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, कपिल का सांख्य, पतंजलि का योग, जैमिनि का पूर्वमीमांसा तथा बादरायण का उत्तरमीमांसा या वेदांत। इन छः दर्शनों को दो-दो के इन तीन जोड़ों में रखा जा सकता है : न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व तथा उत्तर-मीमांसा, क्योंकि इनमें से प्रत्येक जोड़े के सदस्य या तो अपने सामान्य तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण में या अपने ऐतिहासिक आधार में या इन दोनों ही बातों में एक हैं। हमें न केवल इन तीनों जोड़ों पर, बल्कि दो अन्य दर्शनों पर भी विचार करना चाहिए, जिनमें से एक भारतीय भौतिकवाद है और दूसरा उत्तरकालीन बौद्ध-दर्शन—जो वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिक नामक चार संप्रदायों में बंटा हुआ है। ऊपर उल्लिखित छः आस्तिक दर्शनों[17] से भेद करने के लिए जैन दर्शन को इन पांच दर्शनों से मिलाकर कभी-कभी छः नास्तिक दर्शन कहा जाता है। लगभग इन सभी के अंकुर पिछले युगों के साहित्य में पाए जा सकते हैं, लेकिन इनका पूरा विकास और व्यवस्थापन प्रस्तुत युग में हुआ। एक बार इन दर्शनों के व्यवस्थाबद्ध हो जाने के बाद वे मार्ग सदा के लिए निर्धारित हो गए, जिनमें भारत में दार्शनिक विचारधारा बाद में प्रवाहित हुई। यद्यपि ये दर्शन एक-एक आचार्य के नाम से शुरू हुए, तथापि वास्तव में अपने-अपने वर्तमान रूपों में विचारकों की लंबी परंपराओं के चिंतन के फल हैं, क्योंकि समय के साथ इन दर्शनों में वृद्धि हुई है। इन विचारकों में से कुछ के नाम तो ज्ञात हैं, लेकिन यह कहना मुश्किल है कि उनकी देन क्या थी और कहां तक मूल सिद्धांत में उन्होंने परिवर्तन-परिवर्धन किया था? कारण यह है कि उन्होंने उस दर्शन का, जिसके वे अनुयाई थे, अधिक विचार रखा और उसके विकास में अपने योगदान के लिए श्रेय लेने की बात कम सोची। अतः विभिन्न दर्शनों को सहयोगपूर्ण चिंतन की उपज कहा जा सकता है और अलग-अलग चिंतकों के कार्य समूह के कार्य में विलीन हो जाते हैं। शंकर और रामानुज जैसे गहन विचारक तक अपने दर्शन के लिए काम करने से ही संतुष्ट रहे। उन्होंने अपने व्यष्टित्व को बिलकुल भुला दिया और इस प्रकार सत्य की खोज में अपने पूर्ण निष्काम-भाव का प्रमाण दिया। जैसा कि एक से अधिक पुराने लेखकों ने लिखा है, सत्य का अन्वेषण स्वयं ही अपना प्रेरक है, न यश उसका प्रेरक है और न लाभ।[18]

इन दर्शनों को 'तंत्र' इसलिए कहा गया है कि इनमें से प्रत्येक के विचार सुसमन्वित हैं और तार्किक दृष्टि से अंगांगी संबंध रखते हैं। एक दूसरे अर्थ में भी ये तंत्र हैं और वह यह है कि इनकी आवश्यक बातें अंतिम (सिद्धांत) मानी जाती हैं, यद्यपि विस्तार की बातें बदल सकती हैं। इनमें से कई आधुनिक अर्थ में दर्शन से अधिक हैं, क्योंकि इनमें एक ओर तो धर्म शामिल है और दूसरी ओर वह, जिसे आजकल विज्ञान माना जाता है। आजकल, जब खोज की प्रायोगिक विधियों का इतना अधिक विकास हो चुका है, इन दर्शनों में शामिल विज्ञान का मूल्य अधिक नहीं माना जाएगा और इसलिए हम उसका उल्लेख केवल तभी करेंगे जब उसका स्पष्ट दार्शनिक महत्त्व समझा जाएगा। लेकिन, धर्म की बात अलग है; क्योंकि, जैसाकि बताया जा चुका है, भारत में इसे दर्शन से पृथक् रखनेवाली रेखा बहुत ही धुंधली है।

विभिन्न दर्शनों के बारे में जानकारी लेने के मूल स्रोत प्रायः सूत्र-ग्रंथ हैं। सूत्र साहित्य का एक विलक्षण रूप है, जिसका विकास भारत में ईसवी सन् से कुछ शताब्दी पहले तब हुआ था जब ग्रंथ-रचना में लिखने का प्रयोग अभी शुरू नहीं हुआ था और परंपरा से प्राप्त संपूर्ण ज्ञान को केवल स्मृति में सुरक्षित रखना पड़ता था। सूत्र आकार में बहुत ही संक्षिप्त होते हैं और व्याख्या के बिना उन्हें समझना अति कठिन होता है। शुरू में शिष्य उन्हें प्रामाणिक व्याख्या के साथ गुरु के मुख से सुनकर याद कर लेते थे और इसी तरह आगे चलाते थे। लिखित रूप उन्हें बहुत बाद में दिया गया। जो व्याख्याएं उनके साथ चलती थीं, वे कालांतर में थोड़ी-बहुत बदल गईं और उन्हें भी ठीक रूप देकर प्रायः भाष्यों के नाम से लेखबद्ध कर लिया गया—भाष्य का अर्थ है बोलचाल की भाषा (अर्थात् वैदिक भाषा नहीं, बल्कि संस्कृत भाषा) में लिखी व्याख्या। सूत्र-साहित्य का निर्माण उसकी आवश्यकता न रहने के बाद भी बहुत समय तक होता रहा। और कल्पसूत्र इत्यादि प्राचीन सूत्र-साहित्य के विपरीत यदि सब दार्शनिक सूत्र-ग्रंथ नहीं तो कुछ तो अवश्य ही इस उत्तरवर्ती युग की रचनाएं हैं। इनका काल सामान्यतः 200 ई. से 500 ई. के बीच माना जाता है।[19] लेकिन, यह ध्यान रखना जरूरी है कि जिन दार्शनिक संप्रदायों के सिद्धांतों का वर्णन ये सूत्र-ग्रंथ करते हैं, वे स्वयं इतने बाद के नहीं हैं। निश्चय ही वे बहुत प्राचीन हैं और उनकी यह प्राचीनता गौतम, कपिल इत्यादि उनके प्रथम प्रवक्ताओं को 'ऋषि' कहने से प्रकट होती है। इसलिए ऊपर दी हुई तिथियों को केवल उस काल की सूचक मानना चाहिए, जब उन्हें एक निश्चित रूप प्रदान किया गया था। इस प्रकार एक अर्थ में दर्शनों के प्रारंभिक रूप होते हुए भी सूत्र वास्तव में दीर्घकालीन विकास के परिणाम हैं—उस विकास के, जिसके विस्तार की बातें शायद सदा के लिए

लुप्त हो चुकी हैं। अतः सूत्र दर्शनों की वास्तविक प्राचीनता को सही रूप में प्रकट नहीं करते और साथ ही, जब वे पहले-पहल रचे गए थे, तब से उनमें आचार्यों और व्याख्याकारों के द्वारा परिवर्तन-परिवर्धन भी कर दिए गए। किंतु, अब ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे यह ठीक-ठीक निर्धारित किया जा सके कि उनके कौन-से अंश वस्तुतः मौलिक हैं और कौन-से बाद के जुड़े हुए हैं। उनके प्राचीन अंश नवीन अंशों के साथ इस तरह मिल गए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। सूत्रों के दो लक्ष्य कहे जा सकते हैं—एक है उन सिद्धांतों की स्थापना, जो उन्हें इष्ट हैं और दूसरा है उन सब सिद्धांतों का खंडन, जो उनसे भिन्न हैं। इस प्रकार सूत्र-ग्रंथ रचनात्मक होने के साथ-साथ आलोचनात्मक भी हैं। प्रत्येक दर्शन के साहित्य में सूत्र-ग्रंथ के अतिरिक्त उसके ऊपर एक या अधिक भाष्य, भाष्य या भाष्यों के ऊपर टीकाएं तथा उस दर्शन के चुने हुए विषयों पर गद्यात्मक, पद्यात्मक या गद्यपद्यात्मक प्रकरण-ग्रंथों का समावेश होता है। प्रत्येक दर्शन का साहित्य-निर्माण बहुत लंबी अवधि तक होता रहा। यह कार्य सूत्र-ग्रंथों की रचना के थोड़े समय पश्चात् शुरू हुआ और अभी एक या दो शताब्दी पूर्व तक चलता रहा। ❖

संदर्भ ग्रंथ

1. प्रमाकरणं प्रमाणम्।
2. मीमांसा के प्राभाकर संप्रदाय में अब तक केवल वेद के अर्थ में ही शब्द को प्रमाण माना जाता है।
3. 'प्रमाण' और 'प्रमेय' शब्द मैत्री उपनिषद् (6.14) में पाए जाते हैं और प्राचीन भारत के यूनानी वर्णनों में दार्शनिक के लिए 'प्रामाणिक' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है 'वह जिसके निष्कर्ष प्रमाणों पर आधारित होते हैं।' (देखिए Cambridge History of India, जि. 1, पृ. 421)।
4. इस तरह के ऊंचे प्रमाण में सब नास्तिक दर्शन विश्वास नहीं करते। अतः भारतीय दर्शनों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है : (1) वे, जो केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को मानते हैं, (2) वे, जो इनके अतिरिक्त अंतःप्रज्ञा को भी मानते हैं, और (3) वे, जो अंतःप्रज्ञा के स्थान पर श्रुति को मानते हैं।
5. परंपरा को हम नास्तिक संप्रदायों के मामले में 'आगम' समझ सकते हैं और आस्तिक संप्रदायों के मामले में 'श्रुति', जिसे कभी-कभी 'निगम' भी कहा जाता है। परंतु इन तीन शब्दों के प्रयोग में यह अंतर हमेशा नहीं रखा जाता।
6. तुलना कीजिए : 'अर्थेऽनुपलब्धे'—वस्तु के (अन्यथा) अज्ञात होने पर—जैमिनि-सूत्र 1.1.5।
7. 'अग्निः हिमस्य भेषजम्'—यह वचन वस्तुतः वेद में आया है, लेकिन भाष्यकारों ने इसे एक 'अनुवाद', यानी पहले से ज्ञात बात की आवृत्ति कहा है।
8. देखिए, जैमिनि-सूत्र 1.3.30 पर शबर का भाष्य।
9. जैमिनि-सूत्र 1.1.5 में 'अव्यतिरेक' (जिसका निषेध न हो) शब्द आया है।
10. वृहदारण्यक उपनिषद् के शांकर भाष्य पर आनंदज्ञानकृत टीका, पृ. 8 देखिए : 'सम्भावनामात्रेण लिंगोपन्यासः। न हि निश्चायकत्वेन तदुपन्यस्यते।'
11. इस अर्थ में उन्हें 'युक्ति' या 'अनुकूल-तर्क' कहा गया है, अनुमान नहीं।
12. देखिए, वेदांतसूत्र, 2.1.2। तर्कनावादियों के इस दावे के बारे में कि ऐसे सत्य तर्क द्वारा प्राप्त हो सकते हैं, यह कहा गया है कि उनके ध्यान में वह तर्क है जिसका प्रयोग श्रुति द्वारा सत्य की पहले प्राप्ति हो जाने के बाद होता है। वे इसलिए नहीं जानते कि उन्होंने तर्क किया है; बल्कि वे इसलिए तर्क करते हैं कि वे जानते हैं। देखिए, वेदांत-सूत्र (शांकर भाष्य) 1.1.2 और वृहदारण्यक उपनिषद् (शांकर भाष्य) पृ. 7।
13. देखिए, भर्तृहरिः वाक्यपदीय (1.34) :
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपद्यते।
14. लेकिन यह स्पष्ट है कि शास्त्रोक्त सत्य भी शुरू में किसी मानवीय साधन से—यदि तर्क से नहीं तो साक्षात् अंतःप्रज्ञा से—प्राप्त हुआ होगा। इस प्रकार यदि श्रुति भी प्राचीन ऋषियों का अंतःप्रज्ञामूलक अनुभव है और पौरुषेय है, तो शायद वह नास्तिकों के आगम से मुश्किल से ही भिन्न लगेगी। लेकिन कहीं-कहीं एक चौथी शर्त भी रखी गई है, जिससे इन दोनों के अंतर का अनुमान किया जा सकता है (देखिए, कुसुमांजलि, 2.3 और श्लोवार्तिक, पृ. 90)। शर्त यह है कि श्रुतिमूलक सत्य समाज की सामान्य बुद्धि को स्वीकार्य सिद्ध हो चुका हो (महाजनपरिग्रह), अथवा वह उससे संगति रखता हो जिसे जातीय अंतःप्रज्ञा कहा जा सकता है। सामान्य समाज की यह स्वीकृति ही अंत में आस्तिकों की श्रुति को नास्तिकों के आगम से अलग करनेवाली प्रतीत होती है।
15. देखिए, न्यायसूत्र-भाष्य, 4.1.14।
16. देखिए, वृहदारण्यकोपनिषद्-वार्तिक, पृ. 890, श्लोक 22, और तुलना कीजिए, Sacred Books of the East, जिल्द 22, पृ. XLV।
17. जैसा कि ऊपर पृ. 107 पर बताया गया है, ये सभी ईश्वरवादी के अर्थ में आस्तिक नहीं हैं।
18. देखिए, न्याय-भाष्य, 42.51; सुरेश्वरः नैष्कर्म्यसिद्धि, 1.6।
19. Prof, Jacobi : Dates of Philosophical Sutras, Journal of the American Oriental Society, जि. 31 (1911)।

❖❖

अनुभूति

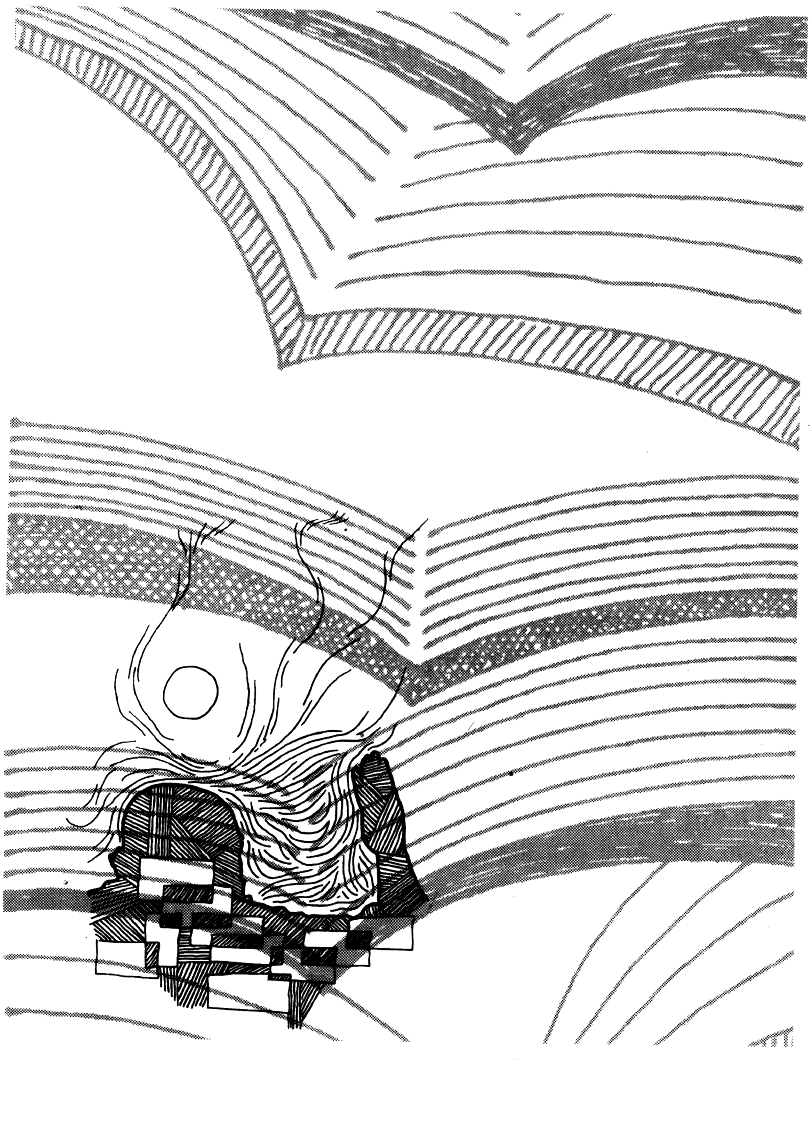

मैं वाक् की साधना को सर्वोपरि साधना समझता हूं। वाग्देवी का बीज मंत्र 'ऐं' है और यही मेरा गुरुमंत्र भी है। तंत्र में कहा गया है—'ऐंकारी सृष्टि रूपायै' अर्थात् वाक् ही सृष्टि का मूल तत्त्व है। ज्योति का रूप—'वाच हीदं सर्वकृतम्' ही शब्दब्रह्म है। वाक् को ब्रह्म जानकर जो इसकी उपासना करता है, उसकी गति और मति सार्थक होती है।

—प्रो. कल्याणमल लोढा

भाव परिवर्तन का सूत्र : विनिवर्तना का संकल्प

आचार्यश्री तुलसी

‘
भावों का दर्पण सामने रखकर अपना चेहरा देखना आवश्यक है। चेहरा भी बाहरी नहीं, भीतरी देखना है। जब तक वह दिखाई नहीं देगा, व्यक्ति अपने स्वरूप से परिचित नहीं हो सकेगा। स्वरूपबोध के लिए उसमें जिज्ञासा जगे कि मैं कैसा हूं? जिज्ञासा के बाद दूसरी बात है—बुभूषा। मैं कुछ होना चाहता हूं। जब तक यह भाव नहीं जागता है, पुरुषार्थ का द्वार नहीं खुल सकता। पुरुषार्थ का दरवाजा खटखटाने के लिए चिकीर्षा—कुछ करने की इच्छा का होना आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता।
’

कुछ लोग आस्था के स्वरों को गुनगुनाते हैं। नए यात्रापथ पर प्रस्थान करते हैं। अवरोधों को तोड़कर रास्ता बनाते हैं, संघर्षों से हंसते-हंसते खेलते हैं। धैर्य के साथ आगे बढ़ते हैं और मंजिल तक पहुंच जाते हैं। ऐसे लोग विधायक भावों के अश्व पर सवारी करने वाले होते हैं।

कुछ लोग निराशा की खोह में सोए रहते हैं। वे अतीत में जीते हैं। भविष्य में उड़ान भरते हैं। जो नहीं किया, उसके लिए पछताते हैं। नई आकांक्षाओं के सतरंगे इंद्रधनुष रचते हैं। कभी समय को कोसते हैं। कभी परिस्थिति को दोष देते हैं और कभी अपने भाग्य का रोना रोते हैं। ऐसे लोग निषेधात्मक भावों के खटोले में बैठकर जिंदगी के दिन पूरे करते हैं।

एक पैमाना है आत्म-निरीक्षण का

मनुष्य एक ही प्रकार का जीवन नहीं जी सकता। एकरूपता पुराने व्यंजन की तरह बेस्वाद और पुराने वस्त्र की तरह बेआब होती है। जीवन में विविधता होती है तो जीने के प्रति सहज आकर्षण बना रहता है। संभव है, इसी उद्देश्य से विधायक और निषेधात्मक भावों का अस्तित्व सरजा गया हो। ये दोनों ही भाव मनुष्य में जितने प्रभावशील हैं, अन्य प्राणियों में अपेक्षाकृत कम मात्रा में हैं। सब मनुष्यों में भी इनकी मात्रा एक समान नहीं होती। कौन व्यक्ति इनसे कितना प्रभावित है, यह जानने के लिए सबसे बड़ा पैमाना आत्मनिरीक्षण का है। यह एक सुचिन्तित प्रक्रिया है। इसके द्वारा व्यक्ति मुखौटों की दुनिया से बाहर निकल कर आत्म-साक्षात्कार कर सकता है।

❑ पावन जन्मोत्सव ❑
कार्तिक शुक्ला द्वितीया
(3 नवंबर)
पुनीत स्मरण : विनम्र अभिवंदन

स्वयंवर भावों का

मनुष्य का पूरा व्यक्तित्व भावों पर निर्भर है। फिर भी हर एक व्यक्ति

यह नहीं जानता कि उसमें किस प्रकार के भाव सक्रिय हैं। जिसके मन में यह जिज्ञासा जाग जाती है, उसके लिए समाधान का रास्ता खुल जाता है। जैन आगमों में अठारह प्रकार* के पापों का उल्लेख है। हिंसा, असत्य, चोरी, वासना, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, पर-परिवाद, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य—ये अठारह पाप निषेधात्मक भाव हैं। इनमें कुछ भावों का संबंध समूह के साथ है। कुछ भाव वैयक्तिक हैं और कुछ भाव ऐसे हैं, जो व्यक्ति और समूह दोनों से जुड़े हुए हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ—ये भाव वैयक्तिक और सामुदानिक दोनों हैं। कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद आदि भाव पर-सापेक्ष हैं। समूह में रहने वाला व्यक्ति स्वार्थ, सुविधा, प्रतिष्ठा या प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर इस प्रकार के भावों को जन्म देता है। कुछ व्यक्ति अकारण ही इन निषेधात्मक भावों के शिकार हो जाते हैं। उनके बारे में यही माना जा सकता है कि ऐसे लोग या तो आदत से विवश हैं, या आत्मप्रतिष्ठ क्रोध आदि की प्रेरणा से अभिभूत हैं।

ऊपर जिन निषेधात्मक भावों की चर्चा की गई है, उनसे विपरीत भावों को विधायक भाव के रूप में पहचाना जा सकता है। इनमें अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, असंग्रह, सहिष्णुता, कोमलता, सरलता, सन्तोष, मैत्री, गुणग्राहकता आदि प्रशस्त भावों का समावेश होता है। प्रशस्त और अप्रशस्त भावों के स्वयंवर में कौन व्यक्ति किसका वरण करता है—यह उसकी अपनी समझ पर निर्भर करता है। समझ या विवेक की रोशनी में हर भाव का चेहरा साफ-साफ दिखाई दे सकता है। अपेक्षा इतनी ही है कि उसका वरण करने से पहले व्यक्ति अपनी आंखों का आवरण उतार कर उसे अच्छी तरह से परख ले।

झांकना अपने भीतर

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखने की बात सीधी तो नहीं है, पर महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतः मनुष्य की वृत्ति यह होती है कि वह दूसरों को देखता है। दूसरों का जो भाव या व्यवहार उसे ठीक नहीं लगता, उसी भाव या व्यवहार में वह स्वयं बहता है तो उसे कुछ भान ही नहीं रहता। संभव है, वह अपने बारे में इतना आश्वस्त हो जाता है कि उसका कोई काम गलत होता ही नहीं। यही वह बिंदु है, जहां से बदलाव की दिशा बंद हो जाती है।

स्वभाव परिवर्तन का सूत्र है विनिवर्तना। विनिवर्तना का अर्थ है निषेधात्मक भावों से अप्रभावित रहने का संकल्प। इस संकल्प की स्वीकृति के साथ ही ऐसा पुरुषार्थ शुरू हो जाता है, जो पहले से प्रभावी भावों को निर्वीर्य बना सके, उनसे छुटकारा दिला सके। इसके लिए गंभीर पर्यालोचन की अपेक्षा रहती है। अपने भीतर झांकने वाला व्यक्ति ही यह बोध पा सकता है कि उसमें कौन-सा भाव अधिक सक्रिय है।

कैसा है मेरा स्वरूप?

भावों का दर्पण सामने रखकर अपना चेहरा देखना आवश्यक है। चेहरा भी बाहरी नहीं, भीतरी देखना है। जब तक वह दिखाई नहीं देगा, व्यक्ति अपने स्वरूप से परिचित नहीं हो सकेगा। स्वरूपबोध के लिए उसमें जिज्ञासा जगे कि मैं कैसा हूं? जिज्ञासा के बाद दूसरी बात है—बुभूषा। मैं कुछ होना चाहता हूं। जब तक यह भाव नहीं जागता है, पुरुषार्थ का द्वार नहीं खुल सकता। पुरुषार्थ का दरवाजा खटखटाने के लिए चिकीर्षा—कुछ करने की इच्छा का होना आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता।

दिशा-निर्धारण के अभाव में किया गया पुरुषार्थ सार्थक नहीं होता। राजस्थानी में एक कहावत है—'आंधो बंटै जेवड़ी लारे पाडो खाय।' कोई अंधा व्यक्ति हरी-हरी घास की रस्सी बना रहा था। जितनी रस्सी बनती, उसे वह पीछे की ओर सरका देता। वहां भैंस का पाडा खड़ा था। जितनी रस्सी पीछे सरकती, पाडा उसे चट कर जाता। उस अंधे व्यक्ति का पूरे दिन का परिश्रम पाडे के पेट में गया।

लक्खण नहिं पलटै लाखां

निषेधात्मक भावों में जीने से लाभ है या अलाभ? यह चिंतन का एक पहलू है। क्या ये भाव शरीर को स्वस्थ रखते हैं? मन को समाधिस्थ रखते हैं? विचारों के द्वंद्व को समाप्त करते हैं? समूह के साथ समायोजन की वृत्ति जगाते हैं? व्यक्ति को सहिष्णु बनना सिखाते हैं? कोई भी मनुष्य निषेधात्मक भावों की बैसाखी के सहारे ऊर्ध्वारोहण नहीं कर सकता।

निषेधात्मक भावों से न तो स्वास्थ्य मिलता है और न समाधि। इनकी गिरफ्त से मुक्त होना कठिन है। सब-कुछ बदल सकता है, पर मनुष्य के संस्कारों का बदलाव बहुत जटिल काम है। कहा जाता है—

बारै कोसां बोली पलटै, फल पलटै पाकां।
जरा आयां केश पलटै, लक्खण नहिं पलटै लाखां।।

बारह कोस के बाद बोली बदल जाती है। परिपाक होने के बाद फल बदल जाते हैं। बुढ़ापा आने के बाद केशों का रंग बदल जाता है, किंतु मनुष्य का स्वभाव लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं बदलता। इस जनश्रुति को एकांततः सत्य न माना जाए तो भी इतना निश्चित है कि सघन पुरुषार्थ के बिना संस्कार नहीं बदल सकते।

संस्कारों में परिवर्तन हो ही नहीं सकता, यह मान्यता का अभिनिवेश है। यदि इस बात में सचाई होती तो साधना, तपस्या और प्रयोगों की व्यर्थता सिद्ध हो जाती है। फिर न प्रशिक्षण की अपेक्षा रहती है और न प्रयोगों की मूल्यवत्ता ही प्रमाणित होती है। आज भी हमारी यह आस्था है कि मनुष्य बदल सकता है। बशर्ते कि वह बदलाव के लक्ष्य से प्रतिबद्ध हो। इस भूमिका में उसकी सोच के बिंदु ये होंगे—

- मनुष्य चक्षुष्मान है या नहीं?
- मनुष्य कुछ देखता है या नहीं?
- मनुष्य में महत्त्वाकांक्षा है या नहीं?
- मनुष्य में स्वार्थी मनोवृत्ति है या नहीं?
- मनुष्य का दृष्टिकोण सुविधावादी है या नहीं?
- मनुष्य का विश्वास परिवर्तन में है या नहीं?
- मनुष्य का पुरुषार्थ परिवर्तन की दिशा में है या नहीं?
- मनुष्य में सहिष्णुता है या नहीं?

निषेधात्मक भावों का परिणाम

ये कुछ ऐसे सवाल हैं, जो व्यक्ति को अपनी स्थिति के प्रति सचेत करते हैं। वह इस बात का अनुभव करे कि समाज में वही आदमी उपेक्षित या तिरस्कृत होता है, जो निषेधात्मक भावों में जीता है, जिसका आभामंडल मलिन होता है और जो कुछ जानने, बनने तथा करने की स्थिति में नहीं रहता।

गंगा नदी के तट पर बलकोष्ठ नामक चाण्डाल रहता था। उसकी पत्नी का नाम गौरी था। उसके एक पुत्र था। उसका नाम बल था। कुछ बड़ा होने पर वह हरिकेश नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक दिन वह अपने साथियों के साथ खेल रहा था। वह खेल-खेल में लड़ने लगा। उसे खेल-मंडली से बहिष्कृत कर दिया गया।

हरिकेश रुआंसा होकर खड़ा-खड़ा खेल देखने लगा। अचानक वहां एक सांप निकला। लोगों ने उसको पत्थरों से मार डाला। थोड़ी देर बाद वहां एक अलसिया निकला। उसे किसी ने तंग नहीं किया। हरिकेश ने दोनों दृश्य देखे। उसके मन पर गहरी प्रतिक्रिया हुई। उसने सोचा—दुःख और तिरस्कार का कारण प्राणी का अपना व्यवहार है। मैं सांप के समान विषैला हूं। इसी कारण मेरे साथियों ने मेरा अपमान किया। यदि मैं अलसिए की तरह निर्विष होता तो अपने साथियों से क्यों बिछुड़ता? चिंतन आगे बढ़ा। उसे जाति-स्मृति ज्ञान हो गया। उसने अपने निषेधात्मक भावों को समझा। उन्हें छोड़ा और साधु बन गया।

जो दिल खोजा आपना

मनोविज्ञान के अनुसार आत्मख्यापन मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है। हर व्यक्ति की यह आकांक्षा होती है कि उसका वैशिष्ट्य प्रकट हो। दूसरे लोग उसका मूल्यांकन करें, किंतु अन्य लोगों के प्रति उसका दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं होता। वह उनकी विशेषताओं में भी कमी देखता है। अपनी बड़ी-से-बड़ी गलती उसे छोटी दिखाई देती है, जबकि दूसरों का साधारण-सा दोष पहाड़ जितना बड़ा हो जाता है। यह दृष्टिकोण का ही अंतर है, जो व्यक्ति को अपने दोषों में अच्छाई का भ्रम पैदा कर देता है। अंतर्मुखी व्यक्ति की दृष्टि इतनी पारदर्शी होती है कि वह बाहर के सब आवरणों को चीरकर अपनी दुर्बलताओं को देख लेता है। कबीर ने इसी रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसे बुरा न कोय।।

मनुष्य और कुछ देखे या नहीं, इतना अवश्य सोचे कि आनंदमय जीवन कैसे जीया जा सकता है। आनंद का स्रोत कहीं बाहर नहीं है। अपने ही भीतर जो स्रोत है, उसे खोजने की जरूरत है। इस खोज में खपना खुद को ही होगा। 'जिन खोजा तिन पाइया'—का सिद्धांत अनुभव की वाणी है। भगवान महावीर ने कहा—'पत्तेयं सायं, पत्तेयं वेयणा'—सुख-दुख अपना-अपना है। कोई किसी को न सुखी बना सकता है और न दुखी बना सकता है। दूसरे लोग तो मात्र बैसाखी बन सकते हैं। उनका सहारा उसी को मिलेगा, जो उन्हें स्वीकार करेगा। अन्यथा बैसाखियां तो जड़ हैं। वे किसी को जबरन चलने के लिए प्रेरित नहीं करेंगी। दूसरों के द्वारा सुख-दुख के निमित्त उपस्थित किए जा सकते है, पर संवेदन तभी होगा, जब व्यक्ति उन निमित्तों को स्वीकार करेगा।

वर्कशॉप भावों की दुनिया में

मनुष्य अच्छा या बुरा जो-कुछ करता है, वह उसके अंतर्भावों का परिणाम है। जैसे भाव, वैसी

अभिव्यक्ति—यह तथ्य है। इसके आधार पर प्रश्न खड़ा होता है कि मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता है तो वह अवांछनीय प्रवृत्ति क्यों करता है? उसकी हर प्रवृत्ति का परिणाम उसी को भोगना पड़ता है तो वह गलत प्रवृत्ति के प्रेरक भावों को क्यों नहीं छोड़ता? गलत संस्कारों को नहीं बदला जाता है तो जीवन का सुख छिन जाता है—इस जानकारी के बाद भी वह बदलाव की यात्रा क्यों नहीं करता? बदलने में क्या लाभ? और न बदलने में क्या नुकसान है? लाभ-नुकसान के गणित को समझकर भी व्यक्ति क्यों नहीं बदलता है?

बदलाव की प्रक्रिया जटिल हो सकती है, पर वह असंभव नहीं है। जो व्यक्ति बदलना चाहता है, उसके लिए एक पंचसूत्री कार्यक्रम निर्धारित है। उसकी क्रियान्विति के लिए एक 'वर्कशॉप' आवश्यक है। वह 'वर्कशॉप' किसी सभागार में नहीं होगा। उसके लिए भावों की दुनिया में प्रवेश करना होगा। उसके पांच अंग हैं—आस्था, आशा, आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति, अनुप्रेक्षा अभ्यास।

सबसे पहले मनुष्य के मन में यह आस्था होनी चाहिए कि संस्कारों में परिवर्तन हो सकता है। दूसरे बिंदु पर आशा का दीप प्रज्वलित होता है कि परिवर्तन होगा। तीसरे बिंदु पर आत्मविश्वास इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि वह परिवर्तन करके रहेगा। चौथा बिंदु विश्वास के अनुरूप इच्छाशक्ति या संकल्पशक्ति की पुष्टि पर जाकर ठहरता है। पांचवां बिंदु है अभ्यास। जब तक सफलता न मिले, तब तक निरंतर अभ्यास किया जाए। अनुप्रेक्षा के प्रयोग से भावों को बदला जाए। भाव परिवर्तन ही व्यवहार में परिवर्तन की बुनियाद है। इस बुनियाद पर खड़ा होने वाला व्यक्ति ही बदलाव के चमत्कार को देख सकता है।

मनुष्य का जीवन बहुरंगी है। जिंदगी के बदलते रंगों से परिचित होने के लिए भावजगत से परिचित होना होगा। जीवन के रंग प्रशस्त हों, आकर्षक हों, सर्जनात्मक हों और अपनी उज्ज्वलता से अंधेरों को दूर करने वाले हों—यह अभीप्सा हर व्यक्ति में होती है, पर अभीप्सा कोई जादुई डंडा नहीं है कि जिसे घुमाकर चुटकी बजाते ही सब-कुछ हासिल कर लिया जाए। यथार्थ की धरती कंटीली हो सकती है, पर भावों के गुलाब खिलाने की उर्वरता उसी में है। अतः मनुष्य अपने जीवन के यथार्थ को समझे और निषेधात्मक भावों की पकड़ से अपने-आप को मुक्त करे। ❖

अध्यात्म-साधना के पथ पर कदम बढ़ाते समय जो-जो घटनाएं घटित हों, उन्हें देखकर अटकें नहीं; उन्हें अपनी निधि न मानें, आगे बढ़ें। इन घटनाओं से अहंता-ममता जोड़ेंगे तो जो अहंकार पहले सांसारिक सामग्री से पुष्ट हुआ, वही अब अध्यात्म-साधना को भी अपना ही माध्यम बना लेगा। आध्यात्म-साधना से भी अहंकार के पोषण में जरा कमी नहीं होती है। अध्यात्म के नाम से वह और गहरा-गहरा चला जाता है। फिर उसको वहां से कौन उठाएगा! पापियों के लिए तो भगवान दौड़ पड़ते हैं उद्धार करने। लेकिन पुण्यशीलों के लिए भगवान नहीं दौड़ते। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। अतः पुण्यशीलों की तो और मुश्किल है, इसलिए अनुभूति कुछ आए, कुछ घटना घटे तो उसमें फंसे बिना पार होने की सावधानी रखनी चाहिए। उसे मंजिल न मानकर रास्ते के दृश्य समझ कर आगे बढ़ना चाहिए।

—विमला ठकार

निर्विकार चित्त—अमन की अवस्था

चन्दनसिंह मेहता

कहा गया है कि 'मन के साधे साधना है, संपदा है। मन न सधे तो बाधा है, विपदा है। अद्‌भुत है मनुष्य का मन। यही रहस्य है सांसारिक सफलताओं का और आध्यात्मिक विभूतियों का। पाप-पुण्य, बंधन-मोक्ष, स्वर्ग-नरक सब इसी में समाए हैं। अंधेरा व उजाला सब इसी में है। इसी में जन्म और मरण के कारण हैं। यही है द्वार बाहरी दुनिया का, यही है सीढ़ी अंतस की। इसको साधने की साधना बन पड़े तो मनुष्य सब से पार हो जाता है।'

पर प्रश्न है कि मन से पार हुआ कैसे जाए? सबसे पहली बात है—मन को समझने की कोशिश करना। प्रायः यह समझने की कम कोशिश होती है, अक्सर इससे छुटकारा पाने की सोचते हैं। जबकि इसके स्वभाव को पहले समझना जरूरी है, परिचय पाना जरूरी है। जिस दिन इसे पूरा समझ लेंगे, मन तब ही विसर्जित होगा। इसे लड़कर जीतना मुश्किल है। समझ से तो जीता जा सकता है। अतः इसे शांत भाव से देखने की जरूरत है। देखने से ही मन गिरने लगता है, उसकी पकड़ जाने लगती है। इसे समझना ही नियंत्रण की पहली सीढ़ी है।

'मन किसी भी वस्तु को उसकी समग्रता में नहीं देख सकता, अंश को ही देखेगा, पूर्ण को नहीं। धर्म व दर्शन में यही अंतर है। धर्म उन लोगों के वक्तव्य हैं—जिन्होंने मन को मिटाकर जाना। दर्शन उन लोगों के वक्तव्य हैं—जिन्होंने मन को खूब विकसित किया, समझाया, सिखाया और जगत के संबंध में एक दृष्टि विकसित की। इसीलिए विभिन्न दर्शनशास्त्र अलग-अलग बातें कहते हैं। विवाद धर्मों में नहीं होता, दर्शनों में होता है। जहां मन है—वहां एक वक्तव्य, अन्य वक्तव्य गलत।'

मन : एक वृत्ति

जब मन या 'माइंड' शब्द का प्रयोग करते हैं तो ऐसा लगता है कि शरीर में यह कोई अंग होगा। जिन्होंने मन को भीतर से जाना है, वे ऐसा नहीं मानते। आधुनिक विज्ञान भी ऐसा नहीं मानता। यह कोई भौतिक तत्त्व नहीं है, यह तो एक वृत्ति है। यों कहा जा सकता है कि मन एक सोच है—अहंकार, इच्छाएं, आशाएं आदि। बौद्ध भिक्षु बोधिधर्म जब चीन गए तो चीन का सम्राट उनसे मिलने आया। सम्राट ने कहा कि मेरा मन बहुत बेचैन है, अशांत है—मैं क्या करूं कि वह शांत हो जाए। बोधिधर्म ने कहा कि—कुछ भी न करो, पहले अपना मन मेरे पास लाओ। प्रातः चार बजे आना, जब कोई नहीं होता। मन को साथ लेकर जरूर आना। प्रातः बोधिधर्म ने पूछा, मन साथ लाए। सम्राट ने कहा, वह तो मुझमें ही है। तो उसने कहा कि आंखें बंदकर खोजो, वह कहां है, ढूंढ़ लो, उसी क्षण बता देना। सम्राट ने भीतर झांका, पाया—मन कहीं नहीं

है, जिसकी ओर इंगित किया जा सके, वैसी कोई वस्तु नहीं है। यह तो क्रिया है, उस क्रिया को क्रियान्वित मत करो। सम्राट बोधिधर्म के सामने झुक गया और कहा—ढूंढ़ने जैसा कुछ है ही नहीं। बोधिधर्म ने कहा, जब भी तुम अनुभव करो कि अशांत हो तो भीतर झांक लेना कि बेचैनी कहां है? इसीलिए तो महर्षि पतंजलि ने कहा है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध'—अर्थात् योग मन की समाप्ति है। जब मन सक्रिय न रहे तभी योग। मन तो एक वृत्ति है।

मन इंद्रियों का जोड़

मन इंद्रियों का जोड़ है। सारी इंद्रियां अपने अनुभव को मन में उंडेल देती हैं। वह व्याख्या करता है, उनको नियोजित करता है। आंखें देखती हैं, कान सुनते हैं, हाथ छूता है, मन सबको संयुक्त करता है। मन पांचों इंद्रियों का जोड़ है। मन इंद्रियों के बिना जी नहीं सकता और इंद्रियां मन के बिना नहीं। यदि मन बेहोश हो जाए तो इंद्रियां जी नहीं सकतीं और यदि एक-एक इंद्रिय बेकार होती चली जाए तो मन कमजोर होता चला जाता है। चूंकि मन सब इंद्रियों का जोड़ है, इसलिए प्रत्येक इंद्रिय से इसकी शक्ति अधिक है। ऐसा नहीं हो सकता कि आंख को बंद करने का आदेश दें और वह न माने, परंतु मन को दिया जाने वाला आदेश वह तत्काल मान ले, यह जरूरी नहीं है। साधारणतया मन का स्वभाव उसे न मानकर अपनी सर्वोच्चता तय करना है। श्रीकृष्ण ने गीता में मन को भी इंद्रिय माना है और कहा है कि इंद्रियों में मन हूं। यह तो उन्होंने प्रतीक के रूप में समझाया है। इस मन के पीछे बुद्धि है, बुद्धि के परे आत्मा व परमात्मा है, चेतना है। पर, आत्मा और परमात्मा को समझना मुश्किल है। अतः मन को प्रतीक के रूप में लिया है। जो इस इंद्रियों के संग्रह मन को वश में कर लेता है, वह वासना के कारागृह से पार हो सकता है।

चेतन व अचेतन मन

मन के दो भाग हैं—चेतन मन, अचेतन मन। चेतन मन बहुत छोटा हिस्सा है—दसवां भाग और बाकी नौ भाग अचेतन मन। अचेतन की ताकत चेतन से नौ गुना ज्यादा है। चेतन मन में सोचते हैं, क्रोध करना बुरा है, नहीं करेंगे। पर, फिर-फिर आ जाता है, क्योंकि अचेतन में भरा पड़ा है। क्रोध करने के बाद सोचते हैं कि पता नहीं फिर कैसे आ गया। चेतन मन सक्रिय नहीं होता, वह केवल सोचता है, वह कर्ता नहीं होता। अचेतन मन मूर्च्छित होता है—सोचता नहीं, करता है। चेतन मन में सोचने से, कि कुछ गलत है—वह रुकने वाला नहीं है। जब वह अचेतन में पहुंचे तभी उसका महत्त्व है, तभी उसका उपयोग है, अन्यथा सोचेंगे कुछ और करेंगे कुछ। जितना चेतन मन का विस्तार हो उतना ही अचेतन मन कम होता जाता है। किसी से बात करें—सभी चेतन मन के द्वारा बहुत अच्छी-अच्छी बातें करते हैं, पर उनके जीवन में झांकें तो विपरीत ही दिखाई पड़ता है। साफ है, ऐसा तब होता है, जब चेतन मन का अचेतन से कोई प्रभाव जुड़ नहीं पाता। अनुशासन के द्वारा, योग के द्वारा, अभ्यास के द्वारा चेतन मन का निर्णय अचेतन का भाग बने तभी मन का द्वंद्व मिट सकता है।

एक से अधिक मन

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि 'हे अर्जुन! इस कल्याण मार्ग में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है और अज्ञानी पुरुषों की बुद्धियां बहुत भेदों वाली अनंत होती हैं।' मनुष्य का मन एक भी हो सकता है और अनेक भी। साधारणतया एक चित्त वाली, एक मन वाली अवस्था नहीं होती। मनुष्य बहु-चित्तवान होता है। कभी-कभी विपरीत चित्तों वाला भी होता है। एक व्यक्ति कहता है, मुझे शांति चाहिए और साथ ही कहता है कि मुझे प्रतिष्ठा चाहिए। मन दो विपरीत तरह से सोच रहा है। जोशुआ लिबमेन ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि जब मैं जवान था तो जीवन का नक्शा बनाया। उस सूची में लिखा कि धन चाहिए, सुंदर पत्नी चाहिए, यश चाहिए, सम्मान चाहिए, सदाचार चाहिए, और भी चाहिए। फिर भी लगा कि कुछ बातें छूट गई हैं। वह उस सूची को एक बूढ़े फकीर के पास ले गया। उसे दिखाकर कहा कि कुछ रह गया हो तो वे जोड़ दें। उस बूढ़े फकीर ने कलम उठाई और सारी सूची को काट दी और बड़े अक्षरों में लिख दिया—'मन की शांति'। उस फकीर ने कहा तुम एक चीज पा लो तो बाकी सब मिल जाएगा। उसने लिखा कि—उस दिन तो मुझे लगा कि बूढ़े ने सारी सूची खराब कर दी, पर अब मैं मानता हूं कि उसने ठीक किया। जीवन के अंत में तीन शब्द ही काम के हैं—'मन की शांति'। श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं, महावीर-बुद्ध भी यही कहते हैं कि वासना की दौड़ चित्त को अशांत करती है। यदि एक मन है तो निश्चयात्मक बुद्धि है। यदि एक से अधिक मन हैं तो अनिश्चयात्मक बुद्धि, वहां अशांति ही आकर रहेगी।

विभाजित मन

मन किसी भी वस्तु को उसकी समग्रता में नहीं देख

सकता, अंश को ही देखेगा, पूर्ण को नहीं। धर्म व दर्शन में यही अंतर है। धर्म उन लोगों के वक्तव्य हैं—जिन्होंने मन को मिटाकर जाना। दर्शन उन लोगों के वक्तव्य हैं—जिन्होंने मन को खूब विकसित किया, समझाया, सिखाया और जगत के संबंध में एक दृष्टि विकसित की। इसीलिए विभिन्न दर्शनशास्त्र अलग-अलग बातें कहते हैं। विवाद धर्मों में नहीं होता, दर्शनों में होता है। जहां मन है—वहां एक वक्तव्य, अन्य वक्तव्य गलत।

मन जो देखता है उसके साथ चिंतन की धारा को भी जोड़ता है। जहां तक दिखाई पड़ता है, वहां तक ठीक है, पर जब कहते हैं—सुंदर है, कुरूप है, प्यारा है, बेकार है—तो मन आ गया। मन तो चिंतन का यंत्र है। जितना अधिक चिंतन होगा, उतना ही जगत बंट जाता है। महाकाश्यप ने एक दिन बुद्ध से पूछा कि चारों तरफ पक्षी गीत गा रहे हैं, सूरज उग रहा है—क्या यह सुंदर नहीं है? बुद्ध चुप रहे। महाकाश्यप ने फिर पूछा। बुद्ध मुस्करा दिए। फिर उसने कहा—यह कह दें कि आप उत्तर नहीं देंगे। बुद्ध ने कहा—मेरे लिए न कोई सुंदर रहा और न कोई कुरूप। जैसा है, वैसा ही रह गया। यह मन के बाहर से देखा गया जगत है। मन हट गया तो मापना हट गया। पर आसानी से हटना मन का स्वभाव नहीं है।

दौड़ने वाला मन

मन की दो अवस्थाएं हैं—दौड़ता हुआ मन और ठहरा हुआ मन। दौड़ता हुआ मन वर्तमान में नहीं होता, कल्पना में होता है, भविष्य में होता है और भविष्य का कोई अस्तित्व नहीं होता। अस्तित्व तो वर्तमान का होता है, पर इसका क्षण बहुत छोटा होता है। और वासना को विस्तार चाहिए, जो भविष्य में ही मिल सकता है। यह दौड़ता हुआ मन ही बीमारी है। दौड़ता हुआ मन धार्मिक नहीं हो सकता। परमात्मा में तो वही मन लगा सकता है, जिसका कोई मन न रहा, भविष्य की वासनाएं हट गईं व वर्तमान ही रह गया। मंदिर में बैठना आसान है, प्रभु नाम का उच्चारण करना आसान है, परंतु मन का वहां होना उतना आसान नहीं है। मन का अर्थ ही तरंगें हैं, बेचैनी है। मन जहां शांत, शून्य हो जाता है, खो जाता है, ठहर जाता है—वहां परमात्मा ही प्रकट होता है। दौड़ता मन तो वासनाओं का, कामनाओं का विस्तार ही है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ कहते हैं—'मनुष्य का मन बहुत दौड़ता है। जो व्यक्ति इस सचाई को समझ लेता है कि मन के साथ कब किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए—कब मन को दौड़ने के लिए स्थान देना चाहिए और कब मन को बांधकर पिंजड़े में डाल देना चाहिए, कब मुक्त करना चाहिए और कब उसे जकड़ देना चाहिए—यह वर्तमान के साथ मैत्री स्थापित करना है। मन के साथ-साथ चलने वाला कभी सफल नहीं हो सकता। जो मन के साथ नहीं चलता, किंतु मन की गति पर जब-जैसी जरूरत हो वैसा नियंत्रण स्थापित करता है—वह व्यक्ति जीवन में सफल हो सकता है। मन उसी व्यक्ति को सताता है जो अतीत की यात्रा करता है। जो वर्तमान की यात्रा पर रहता है—मन उसे नहीं सताता।' भूतकाल सताता है और भविष्य दौड़ाता है। यदि ठहर जाना हो तो मन की इन दोनों अवस्थाओं से बाहर जाना जरूरी है।

जहां मन, वहां अप्रसन्न

मन अद्‌भुत है। जहां जो होता है, मन उसे वहां नहीं होने देता। मन कहीं और ले जाता है। एक लेखक ने अपनी जीवनी में लिखा कि जब मैं बचपन में झीलों में, नदियों में मछलियां पकड़ता था, तो उस सुरम्य झील के ऊपर हवाई जहाज गुजरते देखता था। उस समय मन में आता कि कोई ऐसा समय आएगा जब मैं पायलट बनूंगा, आकाश में घूमूंगा—तो कितना आनंद आएगा, मेरा समय मछली पकड़ने में व्यर्थ ही गंवा रहा हूं। संयोग से वह बाद में पायलट बन गया। उसने लिखा कि—जब मैं पायलट होकर उसी घाटी के ऊपर से गुजरता तो मेरे मन में आता कि कब रिटायर होऊंगा और इस सुरम्य घाटी में विश्राम करूंगा, मछली पकड़ूंगा। जब घाटी में था तो घाटी की महिमा मालूम नहीं पड़ी, पायलट की महिमा दिखी और पायलट बन गया तो विश्राम की आकांक्षा कर रहा हूं। अब नीचे फैली हरी घाटी बड़ी सुंदर दिखाई पड़ने लगी। यह पक्का है कि घाटी में पहुंचते ही आकांक्षा फिर और कहीं चली जाएगी। यह उस लेखक ही नहीं, हम सब की कहानी है। मन वहां नहीं रहने देता, जहां है। वह कहीं और ले जाता है। जहां है, वहां से अप्रसन्न रखना इसका स्वभाव है ताकि व्यक्ति दौड़ता रहे।

मन बनता मालिक

योग की दृष्टि से मन का होना ही रोग है। शांत मन का यही अर्थ है कि मन नहीं रहा। शांति और अ-मन एक ही चीज के दो नाम हैं। पर मन का स्वभाव ही ऐसा है कि इसे रोकना चाहें तो रुकता नहीं। उल्टा जोर से चलेगा और

यह सिद्ध करेगा कि तुम मालिक नहीं हो, मालिक मैं हूं। किसी छोटी-सी बात को भी रोकने का प्रयत्न करें तो वही बात बार-बार मन में, विचार में आनी शुरू हो जाती है। एक व्यक्ति एक साधु के पास मन-वांछित फल प्राप्त करने की मंशा के साथ गया। साधु ने उसे एक मंत्र दिया और कहा कि उसका जप करना। पर, शर्त यह है कि बीच में बंदर याद नहीं आना चाहिए। व्यक्ति ने जप आरंभ किया और जब भी आरंभ करता, बंदर की याद चालू हो गई। जो याद नहीं करना चाहता, वही बार-बार घुमड़ने लगी। बड़ी मुश्किल हो गई। मन सिद्ध करता है कि आप मालिक नहीं हैं, मालिक वह है। जिस दिन व्यक्ति मालिक है तभी वह स्व में स्थित अर्थात् स्वस्थ है।

चंचल मन

मनुष्य के सिवाय सारी प्रकृति मन रहित है। मन के कारण ही मनुष्य पशु से ऊपर उठ जाता है और मन के कारण ही वह परमात्मा नहीं हो पाता। परमात्मा अमनी दशा से ही बन सकता है। मन बहुत चंचल है और यही बाधा है, व्यक्ति के अमनी होने में। मन चंचल ही नहीं, बहुत शक्तिशाली भी, बहुत जिद्दी भी है। अपने स्वभाव को कायम रखने में अडिग भी रहता है। जब श्रीकृष्ण अर्जुन को मन के रहस्य व योग के आधारभूत तत्त्व समझाते हैं तो अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है कि मैं मन को वश में करना वायु की भांति अति दुष्कर मानता हूं। वायु की खूबी है कि उसे मुट्ठी में बांधें तो पकड़ में नहीं आती, जितनी जोर से बांधें उतनी ही मुट्ठी से बाहर हो जाती है, दिखाई भी नहीं पड़ती कि उसका पीछा करें और न वह एक स्थान पर स्थिर रहती है। मन भी ऐसा ही है। इसका कोई अनुभव भी नहीं होता, केवल चंचलता की प्रतीति होती है। श्रीकृष्ण उत्तर में कहते हैं—'हे महाबाहो! निस्संदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परंतु हे कुंतीपुत्र अर्जुन, अभ्यास अर्थात् स्थिति के लिए बारंबार प्रयत्न करने से और वैराग्य से वश में होता है।' अभ्यास को हम सब जानते हैं। वैराग्य का अर्थ है विषयों से मुक्ति और स्वयं की तरफ यात्रा। वस्तुओं से राग नहीं। अभ्यास व वैराग्य का मिश्रण हो जाए तो अमन की ओर कदम बढ़ जाते हैं।

साधने के उपाय

चंचल मन को शांत करने के लिए श्रीकृष्ण ने इंद्रियों को वश में कर वासना के पाप को समाप्त करने की बात कही है। उन्होंने इंद्रियों को समाप्त करने के लिए नहीं कहा है। इंद्रियां वश में हों तो वे आज्ञा से चलती हैं, व्यक्ति की छाया की तरह चलती हैं। जो व्यक्ति अपने को कर्ता मानता है, वही इंद्रियों के वश में होता है। जो अपने को केवल साक्षी मानता है, वह इंद्रियों के वश से मुक्त हो जाता है। इंद्रियों के समर्पण का सूत्र उन्होंने बताया—साक्षी भाव।

महावीर ने कहा—'ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान से सब कर्मों की निर्झरा होती है।' यहां ज्ञान का अर्थ लिया जाना चाहिए—जो है, उसे वैसा ही जानना चाहिए, इसमें अपने मन को आरोपित नहीं करना। इस ज्ञान से फिर ध्यान की सिद्धि होती है। ध्यान का अर्थ है—निर्विकार चित्त। जब तथ्य को तथ्य की तरह देखते हैं तो विचार विदा हो जाते हैं। जहां मन नहीं, वहीं तो ध्यान है। अमन की अवस्था ही ध्यान है। यदि ऐसी स्थिति आ जाए तो महावीर कहते हैं कि सभी कर्मों की निर्झरा हो जाती है। निर्झरा का अर्थ है झड़ जाना। पाप-पुण्य झड़ जाते हैं। मन फिर वहां नहीं रहता।

जब मन नहीं रहता, उस स्थिति को एकाग्रता भी कहा जाता है। एकाग्रता कोशिश से नहीं आती। वह तो मन की तन्मयता का परिणाम होती है। मन का तो स्वभाव ही है—एकाग्र नहीं होना। यदि व्यक्ति अपने द्वारा किए जाने वाले कार्यों में रस लेने लगे तो उसका परिणाम होगा एकाग्रता। चाहे भोजन ही क्यों न हो, ऐसे ही करें जैसे भगवान को भोग लगा रहे हैं। पत्थर तोड़ रहे हैं, तो किसी के लिए विश्राम का स्थल बना रहे हैं, कोई मंदिर बना रहे हैं। पढ़ा रहे हैं, तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त शक्तियों का बालक में विकास कर रहे हैं, उसे ईश्वर की कृति मानकर। यदि किसी काम में रस है तो एकाग्रता की चेष्टा नहीं करनी पड़ती। कबीर तो कहते हैं कि मेरा उठना, बैठना ही भगवान की परिक्रमा है। विडंबना यह है कि अधिकांश लोग जो भी कर रहे हैं, बेमन से कर रहे हैं, बिना रस के कर रहे हैं, अपने कार्य को विराट से जोड़े बिना कर रहे हैं, बिना उमंग के कर रहे हैं। रस तभी आता है जब व्यक्ति अपने कार्य को मूल्यवान समझता है। श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं कि जो भी काम करो, मेरा समझकर करो, मुझे अर्पण करो, यही मेरी भक्ति होगी। यही भजन बनता है, यही ध्यान बनता है, यही एकाग्रता बनती है और यही अमन होने की प्रक्रिया है।

महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र में चित्त के परिष्कार हेतु कई उपाय बताए हैं। उन्होंने शरीर व मन के उपद्रवों के शमन के सूत्र समझाए हैं। कई बार व्यवहार की गड़बड़ियां

मन को अशांत कर देती हैं। इनके कारण मन इतना चंचल व अस्थिर हो जाता है कि योग साधना की स्थिति ही नहीं बनती। वे कहते हैं कि आनंदित व्यक्ति के प्रति मैत्री, दुखी व्यक्ति के प्रति करुणा, पुण्यवान के प्रति मुदिता तथा पापी के प्रति उपेक्षा—इन भावनाओं का संवर्धन करने से मन शांत हो जाता है।

संभावना प्रत्येक में

जब-जब मन को साधने की बात होती है, अनायास ही यह बात उभार दी जाती है कि यह तो श्रीकृष्ण, महावीर, बुद्ध जैसे लोगों के वश की ही बात है, यह तो महापुरुषों की बात है और हम तो साधारण जन हैं। भूल हो गई। आत्मविश्वास जगाने के स्थान पर दीनता आ गई, हीनता आ गई। वे भी ऐसे ही पुरुष थे और शिखर पर पहुंच गए। वट वृक्ष का नीचे पड़ा छोटा-सा बीज सोच ही नहीं सकता कि वह इतना बड़ा वृक्ष हो सकता है। पर, हर बीज में संभावना है। वैसी ही संभावना हर पुरुष में है। मन को वश में करना जरूर कठिन है, पर आरंभ तो करना पड़ेगा। एक-एक कदम चलने से ही मंजिल मिलती है। मनुष्य के जीवन की यह मंजिल चाहे एक जन्म में मिले या जन्मों-जन्मों में—मिलेगी चलने पर ही। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के
विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं
का स्वागत है।

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

रजत जयंती वर्ष
पर विशेष

समण परंपरा : क्रांतिकारी प्रादुर्भाव

निर्मला डोसी

'भौतिक चकाचौंध और विलासिता भरे जीवन-चक्र ने संपूर्ण मानवता के सामने जो नैतिक-आध्यात्मिक संकट पैदा किया है और उससे जो विसंगतियां व विषमताएं उपस्थित हुई हैं, उन्हें लेकर हमारे समय के महापुरुषों ने कई स्तरों पर गहन चिंतन किया है। अध्यात्म जगत के सर्वमान्य महामना आचार्यश्री तुलसी ने 25 वर्ष पूर्व चिंतनपूर्वक एक परंपरा स्थापित की और इसे 'समण परंपरा' नाम दिया गया। आध्यात्मिक जीवन के लिए पूरी तरह समर्पित इस 'समण संस्था' ने विश्व में नैतिक पुनरुत्थान के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'समण-परंपरा' के रजत जयंती वर्ष पर इन्हीं अवदानों की एक बानगी इस आलेख में—'

सदा ही 'लेडीज एंड जेंटिलमैन' जैसा संबोधन सुनने के अभ्यस्त कान निहायत सरलता से अपनत्व का रिश्ता कायम करता-सा संबोधन 'ब्रदर्स एंड सिस्टर्स ऑफ अमेरिका' सुनकर यकायक खड़े हो जाते हैं। बड़ी गर्मजोशी से प्रत्युत्तर में समूचे सभासद खड़े होकर लगातार तीन मिनट तक तालियां बजाते हैं। ये ऐतिहासिक पल घटित हुए थे—सन् 1893 के सितंबर माह में। ग्यारह से छब्बीस सितंबर, 1893 को 'वर्ल्ड पारलियामेंट ऑफ रिलीजंस' (विश्व धर्म संसद) का आयोजन हुआ था शिकागो में और भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे तब के युवा मनीषी 'नरेन', जो कालांतर में संत विवेकानंद के नाम से दुनिया-भर में जाने गए।

तब वेदांत-दर्शन और उपनिषदों का अकूत ज्ञान भारत तक ही सीमित था। किसी ने भारत की विराट् दार्शनिक थाती और ज्ञान के दिव्य प्रकाश को बाहर ले जाने की पहल नहीं की थी। रामकृष्ण परमहंस जैसे निष्णात गुरु ने धर्म का मर्म समझाने के लिए अपने होनहार शिष्य को इस सम्मेलन में प्रतिनिधित्व करने विदेश भेजा था। यह आध्यात्मिक यात्रा दक्षिणेश्वर से शुरू होकर शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन तक पहुंची। समूचे विश्व के चुनिंदा विद्वानों ने सर्वसम्मति से संत विवेकानंद के कथन को न केवल समझा, बल्कि माना भी कि भारत की संस्कृति व वहां का धर्म-दर्शन अपने-आप में परिपूर्ण हैं, मानव-हितकारी हैं। उनमें किसी तरह के संदेह करने का कोई आधार नहीं दिखाई देता। अनेक सत्रों में विभिन्न विषयों पर 'नरेन' के भाषण हुए, अपनी बात प्रामाणिक तर्कों-तथ्यों के साथ रखी।

जिस भारत को विदेशों में सांपों-सपेरों, बंदरों के करतब दिखाते मदारियों तथा शिक्षा-विहीन कूढ़मगजों का देश समझा जाता था, वहां अपने देश के ज्ञान, दर्शन व धर्म की धाक जमा कर लौटे विवेकानंद की वही परंपरा संवत 2037, कार्तिक शुक्ला द्वितीया (नवंबर, 1980) में फिर से स्थापित हुई। विश्वशांति तथा नैतिक मूल्यों के उत्थान का ध्येय लेकर भारत के ज्ञान, दर्शन तथा योग के साथ-साथ भावनात्मक विकास की पुनर्प्रतिष्ठा की आवश्यकता समझी गई और जैन धर्म के तेरापंथ संघ में 'समण-परंपरा' का क्रांतिकारी प्रादुर्भाव हुआ। इसी के साथ भारतीय सीमा को लांघ कर विदेशों

में भारत के धर्म-दर्शन और अध्यात्म का परचम फहराया जाने लगा। इससे पूर्व संघ के साधु-साध्वी कभी भी विदेश नहीं गए। स्वदेश में ही उनकी पद-यात्राएं होती रहीं। जैन साधु-साध्वी वाहन का उपयोग वर्जनीय मानते रहे हैं।

इस समण-परंपरा का सूत्रपात तेरापंथ के दशम आचार्यश्री तुलसी ने किया। वे प्रकांड मनीषी तो थे ही, जड़ और रूढ़ परंपराओं से समाज को मुक्त करने वाले कुशल नियंता और अपनी क्रांतदृष्टि से नवसृजन के संवाहक भी थे। छः युवतियों को 'समणी' के रूप में दीक्षित कर सन् 1980 में धर्मक्षेत्र में उन्होंने नव-क्रांति का सूत्रपात किया। नवसर्जित समणी-वर्ग को उच्चकोटि की शिक्षा दी गई। ज्ञान का कोई आयाम अछूता नहीं छोड़ा। ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म-दर्शन, कला, योगशास्त्र, इतिहास आदि तमाम तरह के शिक्षण-प्रशिक्षण से इस वर्ग को निष्णात बनाया गया। इतना ही नहीं, ध्येय के प्रति समर्पण और गुरु के प्रति एकलव्य-सी निष्ठा को परखने के लिए कई कसौटियों पर भी इनको कसा गया। तब कहीं जाकर उन्हें विदेश यात्राओं के लिए भेजना शुरू किया गया। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दक्षता और साधना का क्रम अनवरत जारी रखा गया।

ज्ञान के आलोक से दिपदिपाती पेशानी और पूरे अधिकार व आत्मविश्वास के साथ अपनी बात कहती उन शुभ्रवसना युवतियों को देखकर, उन्हें सुनकर विदेशी तथा आप्रवासी भारतीय समाज दंग तो रहा ही, उनका अनुगामी भी बनने लगा। यकीनन यह कार्य रातो-रात नहीं हुआ। समय लगा, श्रम भी लगा। इसी का प्रतिफल है कि हांगकांग, सिंगापुर, बैंकाक, मलेशिया, इंडोनेशिया, जापान, अमेरिका, लंदन, हालैंड, बेल्जियम, जर्मनी, स्विट्जरलैंड, आस्ट्रेलिया, स्पेन, रूस इत्यादि देशों में ये समण-समणियां अनेक बार गए हैं। इनके द्वारा बताई गई रीति-नीति से लोगों ने धर्म का वास्तविक मर्म तो समझने का प्रयत्न किया ही, साथ ही विभिन्न प्रयोगों से उसे जीवन में उतारना भी सीखा तथा निष्पत्ति रूप में प्राप्त सफलता तथा आनंद का स्वाद भी अब वे चखने लगे हैं।

अब तो प्रतिवर्ष अमेरिका में ही 6-7 ग्रुप जाने लगे हैं। वहां तीन स्थाई केंद्र कार्यरत हैं। एक टेक्सास में, दूसरा ह्युस्टन के आरलेंडो-फ्लोरिडा में तथा तीसरा केंद्र न्यूजर्सी में है। एक केंद्र लंदन में तथा एक रूस के मास्को में कार्यशील है। इस तरह पांच केंद्र स्थाई रूप से कार्य कर रहे हैं।

पिछले दिनों अमेरिका से लौटी समणी नियोजिका अक्षयप्रज्ञाजी ने बताया कि जैन, जैनेतर तथा विदेशी, सभी श्रेणी के लोग इन केंद्रों पर आते हैं। एक बार जो आ जाते हैं, वे अनवरत संपर्क में रहते हैं। उनका मानना था कि जैनेतर तथा विदेशीजन त्वरित गति से बातें ग्रहण करते हैं। क्योंकि उन्हें अ, आ से ही शुरू करना होता है। उनमें कोई पूर्वाग्रह नहीं। ग्रहणशीलता की गति को पूर्वाग्रह धीमा कर देता है। यह न हो तो परिणाम बहुत अच्छे मिलते हैं। अक्षयप्रज्ञाजी पिछले सालों में तीन बार रूस गई हैं। अपने अनुभव सुनाते हुए उन्होंने बताया कि वहां के लोगों में सीखने-समझने की बहुत ललक है। वे बहुत जिज्ञासु हैं।

ग्रहणशीलता की गति को पूर्वाग्रह धीमा कर देता है। यह न हो तो परिणाम बहुत अच्छे मिलते हैं। अक्षयप्रज्ञाजी ने अपने अनुभव सुनाते हुए बताया कि वे पिछले सालों में तीन बार रूस गई हैं। वहां के लोगों में सीखने-समझने की बहुत ललक है। वे बहुत जिज्ञासु हैं। दरअसल उनके दैनिक जीवन में बड़ा तनाव है। आपसी संबंध भी गहरे नहीं होते कि उन्हें तनावमुक्त कर सकें। अंततः वे शांति की तलाश में भटकते हैं। प्रेक्षा-ध्यान, जीवन-विज्ञान, अणुव्रत तथा अहिंसा की प्रारंभिक जानकारी से उनको शांति मिलती है। इनके प्रयोग भी करवाए जाते हैं। इसके लिए कार्यशालाएं आयोजित की जाती हैं, जिनमें वे नियमित आते हैं और पूरी संजीदगी के साथ सुनते-सीखते हैं।

दरअसल उनके दैनिक जीवन में बड़ा तनाव है। आपसी संबंध भी गहरे-गंभीर नहीं होते कि उन्हें तनावमुक्त कर सकें। अंततः वे शांति की तलाश में भटकते हैं। प्रेक्षा- ध्यान, जीवन-विज्ञान, अणुव्रत तथा अहिंसा की प्रारंभिक जानकारी से उनको शांति मिलती है। इनके प्रयोग भी करवाए जाते हैं। इसके लिए कार्यशालाएं आयोजित की जाती हैं, जिनमें वे नियमित आते हैं और पूरी संजीदगी के साथ सुनते-सीखते हैं। वे अंग्रेजी में बोलते हैं और साथ-साथ जहां, जैसी जरूरत हो उसी भाषा में अनुवाद होता जाता है। उनके साथ अनुवादक भी रहते हैं। डॉक्टर, इंजीनियर, उद्योगपति, प्रशासन से जुड़े लोग, अध्यापन क्षेत्र के लोग, सभी इन कार्यशालाओं में आते हैं। यह सही है कि इन विदेशियों को शुरुआत में लाने वाले आप्रवासी भारतीय ही

होते हैं, जो वर्षों से साथ रहने के कारण उनके मित्र, पड़ोसी या सहकर्मी हो सकते हैं।

समण-समणियों की ज्ञानवर्धक, तर्कसम्मत, विज्ञान-सम्मत बातों को सुनकर पहले तो वे चमत्कृत होते हैं। फिर जब वे प्रशिक्षणों में भाग लेते हैं तो धीरे-धीरे इन प्रयोगों के कायल होते चले जाते हैं। अक्षयप्रज्ञाजी ने बड़ी ही सरलता से बताया कि विदेशियों का हम पर सहज ही विश्वास कर लेने का मूल कारण है—निर्लोभभाव से ज्ञान बांटने का हमारा ध्येय। कोई सहज में विश्वास ही नहीं कर पाता कि आज के इस घोर अर्थवादी युग में बिना पैसे-पाई के कोई सात समुद्र पार आकर विश्वहित के लिए, जीवन में नैतिकता लाने के लिए ज्ञान और दर्शन का नवनीत इस तरह से मुक्त-हस्त से बांटे। इसके लिए इतना श्रम व समय देना ही उनके लिए विस्मय की बात है। जब उन्हें विश्वास हो जाता है, तब वे हमें बड़े ध्यान से सुनते हैं। बताई गई बातें जीवन में उतारते हैं और धीरे-धीरे अपने जीवन में बड़ा बदलाव भी महसूस करते हैं। ध्यान के प्रयोग उन्हें सर्वाधिक प्रिय हैं।

यह समण-परंपरा यद्यपि जैन धर्म की श्वेतांबर शाखा के तेरापंथ धर्मसंघ का अंग है, मगर विदेशों में वे कभी इस पर जोर नहीं देते। कभी भी अपने मार्ग को श्रेष्ठ और दूसरे को हेय नहीं बताते हैं। वे लोग स्वाभाविक रूप से यदि जानना ही चाहते हों, तो ही अपने गुरु तथा अपने संघ के बारे में जरूरी जानकारियां देते हैं। तब कई लोग तत्काल भारत आकर हमारे महान गुरुवर से मिलना भी चाहते हैं।

अक्षयप्रज्ञाजी बताती हैं कि अपने गुरु के प्रति हमारा समर्पण अटूट है। इसीलिए हमारे मार्ग में कोई अड़चन नहीं आती। गुरु-दृष्टि के अनुरूप ही कार्य-विभाजन तथा प्रवास की योजना बनती है। विदेशों में रहने, खाने तथा यात्रा का दायित्व आग्रह करके बुलाने वाले सहर्ष उठाते हैं। वे ही वहां की पूरी व्यवस्था देखते हैं। समणी अक्षयप्रज्ञाजी से बातचीत के दौरान ही अमेरिका प्रवासी इरा पटेल से भी मुलाकात हुई। इरा पटेल तन-मन-धन से समण वर्ग की व्यवस्था देखती हैं। इरा पटेल बताती हैं कि शांति की खोज में वह कहां-कहां नहीं भटकी। यहां आते ही उन्हें लगा कि अब मंजिल मिल गई है। इरा पटेल को जीवन के तनावों तथा रुग्णता ने बहुत भटकाया। जबसे वह समणियों के सान्निध्य में आई, उनमें विस्मयकारी परिवर्तन हुआ। इरा ने ही बताया कि अमेरिका में जो लोग इनके पास आते हैं, वे इनका इंतजार करते हैं कि वे कब आएंगी?

संत विवेकानंद के बाद भारत के गूढ़ ज्ञान की मीमांसा और दैनिक जीवन में इसे उतारने तथा विश्व कल्याण के स्तुत्य कार्य में किसी ने कुछ किया है, तो वह यही समण समुदाय है।

यह समण-समणी वर्ग अपने गुरु के आदेश के अनुरूप ही कार्यक्रम निर्धारित करता है। जैसा निर्देश गुरुवर देते हैं, उसे पूरा करना ही इनका ध्येय होता है। सभी कार्य-योजनाएं गुरु ही तय करते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि विदेशों में दूर-दराज के क्षेत्रों में बैठे अपने शिष्य-समुदाय के दैनिक-जीवन के प्रत्येक छोटे-बड़े कार्य का पूरा लेखा-जोखा गुरु के पास रहता है। भारत में बैठे गुरुवर हर तरह का मार्ग-निर्देश इन्हें देते रहते हैं।

लंबे समय तक यह समणी वर्ग विदेशों में रहता है। वहां चारों तरफ विलासिता का ही साम्राज्य है। उनके जीवन-मूल्य भी अलग हैं। उन्मुक्त वातावरण है और फिसलन के अवसर भी ज्यादा हैं। फिर भी साधना व संयम में कोई स्खलन नहीं आ पाता। कारण स्पष्ट है कि यहां प्रशिक्षण की इतनी सुंदर-सुदृढ़ व्यवस्था है कि 5-7 साल कड़ी कसौटी पर इनको कसा जाता है। साधना के सतत प्रयोग, गुरु के प्रति एकलव्य-सी निष्ठा और अपने ध्येय के प्रति अर्जुन-सी दृष्टि विकसित हो जाती है। तब किसी तरह का प्रलोभन (टेम्पटेशन) उन्हें अपने कार्य से च्युत नहीं कर सकता। विषम स्थितियां तो इस वर्ग को और आगे बढ़ने को प्रेरित करने वाली सिद्ध होती हैं। लक्ष्य सामने हो और पीठ पर गुरु का आश्वस्त करता वरद हाथ रहे, पर-उपकार तथा निज-कल्याण में जिसे आत्मानंद की अनुभूति हो, उसे अन्य सभी चीजें निस्पृह लगने लगती हैं। साधना, संयम, तप तथा शुद्ध लोकहित का ध्येय लेकर चलने वाले इन गृह-त्यागी लोगों का दिव्य आभा से दमकता आभामंडल ही कुटिल-कलुषता को रूपांतरित कर देता है। ❖

यदि तुमने ऋक्मंत्र जान लिया है तो तुमने देवताओं का रहस्य जान लिया है; यजुर्वेद जान लिया है तो यंत्रों का रहस्य जान लिया है, और यदि तुमने सामवेद जान लिया है तो तुमने सारे वेद जान लिए हैं। किंतु मनुष्य-मात्र में निहित अंतर्वेद को जानकर ही तुम ब्रह्म को जान सकोगे।

—**'कूटवेद'** से

विश्वशांति और समाज—तुलसी-दृष्टि

डॉ. बच्छराज दूगड़

> 'संयम के अभाव में विकसित राष्ट्र भी अशांत हैं। जीवन की आवश्यक वस्तुएं, धन-समृद्धि आदि भी शांति के लिए पर्याप्त नहीं हैं। वे केवल जीने के लिए पर्याप्त हो सकती हैं। हिंसा और अहिंसा का स्वरूप भी यहां स्पष्ट हो जाता है। जीना मनुष्य-जीवन का सार नहीं, उसका सार शांति का अनुभव करना है। गाल्टुंग ने कहा है—शांति केवल व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, प्रकृति और संस्कृति की ही नहीं होती, वरन शांति सभी क्षेत्रों में अनुभव भी होनी चाहिए।'

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग सदैव होता आया है। 'सब जीवों को जीवन और सुख प्रिय है। दुख और वध अप्रिय है, इसलिए किसी भी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए, सताना नहीं चाहिए।' 'जिसको तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू दबाना चाहता है, वह भी तू ही है'—इन आदि शाश्वत उद्घोषणाओं के बावजूद हिंसा की समस्या से विश्व संत्रस्त रहा है, शांति की प्यास उसे सदैव रही है। मानव की चिर प्रतीक्षित आकांक्षा शांति है, फिर भी वह अशांत है। हिंसा के पाशविक परिणामों को भोगकर भी वह दिग्मूढ़ है। अहिंसा का मार्ग प्रशस्त है, पर उस पर श्रद्धा नहीं हो पाती। अशांति से मुक्ति के लिए वह अहिंसा की तरफ कदम बढ़ाता है, किंतु हिंसा का व्यामोह उसे फिर अपनी ओर खींच लेता है। समृद्ध भी अशांत है और गरीब भी और जरूरतमंद भी अशांत।

अशांति का हेतु

प्रश्न है—अशांति का मूल क्या है? आचार्य तुलसी कहते हैं—'अशांति का कारण है—जीवन की आवश्यकताओं की वृद्धि। आवश्यकताएं बढ़ती हैं, तो उनकी पूर्ति के लिए आर्थिक लिप्सा बढ़ती है। आर्थिक लिप्सा से शोषण बढ़ता है। शोषण चाहे व्यक्तिगत, जातिगत और राष्ट्रीय कैसा भी हो—उससे संघर्ष और दुर्भावना का जन्म हुए बिना नहीं रहता। सामग्री कम है, आवश्यकताएं अधिक हैं और इससे भी अधिक है संग्रह की भावना। यह समस्या साधनों के विस्तार से नहीं सुलझ सकती। साधनों के विस्तार के साथ-साथ आवश्यकताएं भी बढ़ती जाएंगी। परिणामस्वरूप मनुष्य दिग्मूढ़ होकर पथभ्रष्ट हो जाएगा।' सुकरात ने कहा था—'लोग सरल जीवन-पद्धति से संतुष्ट नहीं होंगे। उन्हें वस्त्र, आवास, भोजन, मेज, सोफा जैसे उपस्कर की आवश्यकताओं से आगे बढ़ जाना चाहिए....उसके बाद हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तक नहीं रहती और जो प्रदेश अपने मूल निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था, वह

❑ 92वां जन्मोत्सव ❑
❑ विनम्र भावांजलि ❑

अब उसके लिए कम हो जाएगा....तक हम अपने पड़ोसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा पार कर जाएं और वे स्वयं धन के असीमित संचय में लग जाएं तो परिणाम होगा—युद्ध।'

स्वार्थ, भय, लोभ आदि मूल प्रवृत्तियों को भी आचार्य तुलसी हिंसा व अशांति के लिए प्रेरक मानते हैं। वे कहते हैं—'व्यक्ति में हीनता की वृत्ति है, जिससे वह स्वयं को दूसरों से हीन मानता है। उसमें गर्व की वृत्ति है, जिससे वह स्वयं को दूसरों से उच्च मानता है। आग्रह की वृत्ति से दूसरों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। अधिकार वृत्ति से वह दूसरों को अपने अधीन बनाए रखना चाहता है।' भय, पक्षपात, लोभ, वासना—इन वृत्तियों से प्रेरित हो व्यक्ति झूठा, अप्रामाणिक, विलासी व संग्रह-लोलुप हो जाता है। हॉब्स ने हिंसा के यही तीन कारण निर्दिष्ट किए हैं—1. प्राप्ति की लालसा, 2. क्षति का भय, 3. मिथ्याभिमान।

मनुष्य हिंसा का पहला प्रयोग कुछ प्राप्ति के लिए करता है। दूसरा प्रयोग प्राप्त हुए की सुरक्षा के लिए और तीसरा प्रयोग वह प्रतिष्ठा के लिए करता है। हिंसा का प्रथम प्रयोग उसे दूसरों का स्वामी बनाता है। दूसरा प्रयोग स्वामित्व के संरक्षण के लिए होता है, तीसरा प्रयोग दूसरों को यह बताने के लिए होता है कि वह उनका स्वामी है, अर्थात् संग्रह, सुरक्षा व प्रतिष्ठा—यह त्रिआयामी चक्र ही मूलतः हिंसा का जिम्मेदार है। यहां यह द्रष्टव्य है कि हॉब्स व गणाधिपति तुलसी के वक्तव्य का एक ही सार है। कुछ लोग प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर हिंसा करते हैं, कुछ लोग असुरक्षा की भावना से हिंसा में प्रवृत्त होते हैं, तो कुछ लोग वर्तमान में अपने बचाव के लिए हिंसा करते हैं।

अतएव मनुष्य की आकांक्षा और अहं की शाश्वत मनोवृत्ति के साथ जब-जब शक्ति का योग हुआ है तब-तब उन्माद बढ़ा है और रक्तरंजित इतिहास की पुनरावृत्ति हुई है। प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध इसके साक्षात् उदाहरण रहे हैं।

अशांति निवारण

गणाधिपति श्री तुलसी के अनुसार उपर्युक्त समस्या के समाधान का सबसे सरल एवं एकमात्र मार्ग आत्मसंयम है। आत्मसंयम के बिना आवश्यकता और साधनों की कमी का संघर्ष काल-कवलित नहीं हो सकता। भौतिक उन्नति के भवन का निर्माण आसक्ति की ईंटों से होता है और जहां आसक्ति है—वहां भेद-भाव है, संघर्ष है, दमन है, युद्ध और अशांति है। जहां संयम है—वहां अनासक्ति है। अनासक्ति कभी भी प्रतिस्पर्धा, युद्ध और अशांति नहीं लाती।

समस्याओं के भी कई रूप हैं और उनके निराकरण में भी अभेद नहीं है। व्यक्तिगत समस्याएं जिजीविषा और युयुक्षा—अर्थात् भोग की मनोवृत्ति एवं लिप्सा—कुछ पाने की मनोवृत्ति। जब-जब इनकी पूर्ति में कोई बाधा आती है, तब-तब संघर्ष प्रारंभ हो जाते हैं। सामाजिक समस्याओं का मूल अभाव, दबाव, संग्रह (सत्ता व धन) है। इन समस्याओं का समाधान है—समानता व चारित्रिक मानदंडों की प्रतिष्ठा करना। समानता की प्रतिष्ठा करना धनी वर्ग व सरकार का कार्य है, जबकि चारित्रिक मानदंडों की प्रतिष्ठा करना व्यक्ति व संपूर्ण समाज का कार्य है। सामाजिक चरित्र के कुछ मानदंड निम्नलिखित हो सकते हैं, जो समस्याओं के समाधान में सक्षम हैं—(1) मानवीय समता—जातीय विषमता की अस्वीकृति, (2) मानवीय एकता—सामाजिक विषमता की अस्वीकृति, (3) प्रामाणिकता और (4) पवित्रता।

अंतरराष्ट्रीय समस्याएं सत्ता को पाने व उसे बनाए रखने, वैचारिक दासता की स्थापना के प्रयत्न व युद्ध के अधिकार पर टिकी हैं। यद्यपि युद्ध के दो पहलू रहे हैं—इसलिए जनता विस्तारवादी मनोवृत्ति से लड़ने वालों और अपनी रक्षा की भावना से लड़ने वालों को एक ही तुला से नहीं तोलती। फिर भी युद्ध अवांछनीय ही है। जो लोग गरीबी, अशांति और अराजकता की स्थिति से लाभ उठाना चाहते हैं, वे ही युद्ध का अनुमोदन करते हैं। समाजशास्त्री कार के अनुसार कुछ समाजसेवी युद्ध को पसंद करते हैं ताकि युद्धोपरांत उन्हें समाजसेवा का अवसर मिल सके, लेकिन संपन्नता, शांति और व्यवस्था में विश्वास रखने वाले कभी भी युद्ध नहीं चाहते। युद्ध उनके लिए विवशता है। बर्ट्रेंड रसेल की भांति गणाधिपति श्री तुलसी कहते हैं—'युद्ध से न जाने मानव सभ्यता की कितनी क्षति हुई है! युद्ध में मारे गए व्यक्ति यदि जीवित रहते तो न जाने कितनी कलाओं का जन्म होता! मानव जाति के विशाल बहुमत ने अब तक कैसे युद्ध को सहन कर लिया!' वे युद्ध के पारंपरिक कारण स्त्री, धन व भूमि को स्वीकार करते हैं।

राम-रावण के बीच हुआ संग्राम स्त्री के कारण था।

कोणिक और चेटक के बीच संग्राम का कारण संपत्ति था, जबकि महाभारत का युद्ध भूमि के लिए लड़ा गया था। यद्यपि आज प्रायः स्त्री के कारण युद्ध नहीं होते, लेकिन धन व भूमि के कारण आज भी युद्ध होते हैं। विज्ञान की प्रगति के साथ ही भोग के साधन बढ़े हैं, परिणामस्वरूप धन व भूमि की छीना-झपटी व हरण हो रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक यूरोपीय राष्ट्र साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद से पीड़ित रहे। बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना से उन्हें आनंद आता था, जिसके लिए वे सैकड़ों वर्ष लड़ते रहे। इसी उपनिवेशवाद ने यूरोप में हिटलर को जन्म दिया। हिटलर 8 करोड़ जर्मनों के लिए उपनिवेश चाहता था। प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के साथ अन्याय के प्रतिशोधस्वरूप संपूर्ण विश्व मात्र भूमि के लिए द्वितीय महायुद्ध की ज्वाला का शिकार बन गया।

गणाधिपति श्री तुलसी कहते हैं—'अपनी जाति और अपने देश के प्रति एकांगी दृष्टिकोण राग है और दूसरी जातियों व देश के प्रति उदासीनता द्वेष है। केवल अपनी ही उन्नति और सत्ता की सोचने एवं दूसरों के पीड़न, त्रास और शोषण का जरा भी खयाल न रखने से ही आज युद्ध का तांडव है।' युद्ध चाहे कैसा ही हो, वह हिंसा का परिणाम है। उसे अहिंसा की संज्ञा नहीं दी जा सकती, फिर भी उसमें अहिंसा के लिए पर्याप्त स्थान है। जैसे—आक्रांता न बनें, निरपराध को न मारें, नागरिकों पर आक्रमण न करें, अपाहिजों के प्रति क्रूर न बनें। इस प्रकार श्री तुलसी युद्धकालीन मानवाधिकारों की चर्चा करते हैं। युद्ध की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं—

'अशांति और युद्ध संग्रह में है—वह बंदूकों, मशीनगनों या परमाणु बमों में नहीं। मानव-मन पर विजय प्राप्त करना, सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के समान है। कहा गया है—

एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
दस हाउ जिणित्ताणं, सव्व सत्तू जिणामहं।

अतएव अशांति और शांति का उपादान मन ही है। इसलिए मन को संयमित करके ही संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। संयम के अभाव में विकसित राष्ट्र भी अशांत हैं। जीवन की आवश्यक वस्तुएं, धन-समृद्धि आदि भी शांति के लिए पर्याप्त नहीं हैं। वे केवल जीने के लिए पर्याप्त हो सकती हैं। हिंसा और अहिंसा का स्वरूप भी यहां स्पष्ट हो जाता है। जीना मनुष्य-जीवन का सार नहीं, उसका सार शांति का अनुभव करना है। गाल्टुंग ने कहा है—शांति केवल व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, प्रकृति और संस्कृति की ही नहीं होती, वरन शांति सभी क्षेत्रों में अनुभव भी होनी चाहिए।

गणाधिपति श्री तुलसी के अनुसार शांति के अनुभव का एकमात्र मार्ग है—मैत्री। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र यह समझे कि किसी भी दृष्टि से दूसरों पर प्रभुत्व, अधिकार और सत्ता स्थापित करने से न कभी शांति हुई है और न कभी होगी। 'हणन्त वा णुजाणाई वेरं वड्ढई अप्पणो।'—वैर से वैर की शांति नहीं होती। अवैर से ही वैर जीता जाता है। प्राणीमात्र के साथ मेरी मैत्री हो, किसी के साथ मेरा विरोध नहीं। भगवान महावीर का यही दृष्टिकोण था। वस्तुतः मनुष्य मनुष्य का शत्रु नहीं होता। मनुष्य ही क्यों, प्राणीमात्र को ही मित्र समझना चाहिए। 'अत्तसमे मनिज्ज, छप्पिकाएं'—जीवनमात्र को आत्मतुला मानना चाहिए।

भावी जीवन का आधार

नवनिर्माण आज के युग की मांग है। निर्माण कैसा हो? गणाधिपति श्री तुलसी कहते हैं—'सभी समाज को समृद्ध, सुखी और समस्थितिक बनाना चाहते हैं। पर, सुख व समृद्धि के स्वरूप को जानना आवश्यक है। जिस समाज का आधार हिंसा और भौतिक लालसा हो, वह कभी भी साम्य स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता तथा पर-नियंत्रण, पर-अधिकार हरण, दमन व साम्राज्य-विस्तार की भावना से बच नहीं सकता।' अविकसित राष्ट्रों के सामने भी यही प्रश्न है। वे उस चौराहे पर खड़े हैं, जहां उन्हें अपने विकास की दिशाएं तय करनी हैं तथा गरीबी-मुक्त समाज का आदर्श लिए नए समाज का निर्माण करना है। यदि वे विकसित राष्ट्रों के समान समृद्ध होना चाहते हैं, तो यह जान लेना आवश्यक होगा कि विकास के नाम पर उन्हें अशांति, टूटते परिवार, ढहते नीड़, अकेलापन, स्वच्छंद यौनाचार तथा नशे की प्रवृत्ति मिली है। इस विकास ने गरीब और अमीर के बीच की खाई को अधिक चौड़ा किया है। निश्चित ही ऐसा विकास न तो वांछनीय है और न ही व्यवहार्य। गणाधिपति श्री तुलसी कहते हैं—'सच यह है कि भौतिक पदार्थों के बिना जीवन का निर्वाह नहीं होता, पर जब तक आवश्यकताओं का सीमाकरण नहीं होगा, तब तक गरीबीमुक्त समाज के निर्माण का स्वप्न भी साकार नहीं होगा। जिस आवश्यकता से दूसरे का अधिकार छीना

जाता है—वह आवश्यकता नहीं, अनधिकार चेष्टा है। अपरिग्रह व अहिंसा की भित्ति पर अवस्थित समाज ही चिर-समृद्ध और चिरसुखी रह सकता है। ऐसा समाज ही साम्य अवस्था को प्राप्त कर सकता है। ऐसे समाज की सार्थकता निम्न तथ्यों पर निर्भर करेगी—

- आवश्यकताओं की पूर्ति,
- विकास के समान अवसर,
- संसाधनों का समान व समुचित बंटवारा,
- साधनों की शुद्धता,
- पारस्परिक संबंध स्वार्थ व शोषण पर आधारित न हों,
- वैज्ञानिक आविष्कार का प्रयोग नियंत्रित हो,
- आवश्यकता से अधिक संचय न हो,
- दूसरों की संपत्ति, सत्ता प्राप्ति व स्वत्व को हड़पने की कोशिश न हो,
- दुर्बल, दलित व अन्य जाति, वर्ण व देश के विरुद्ध भेद-भाव न हो,
- स्पर्धा, ईर्ष्या के भाव निर्मूल हों।

सुधार का केंद्र—व्यक्ति या समाज

कुछ व्यक्ति व्यक्तिगत उन्नति से समष्टि की उन्नति में विश्वास करते हैं, तो कई समष्टिगत सुधार से व्यक्ति सुधार की बात करते हैं। ये दोनों ही दृष्टिकोण एकांगी हैं। गणाधिपति श्री तुलसी द्वारा निर्दिष्ट सुधार का मार्ग बहु-आयामी है, जिसमें व्यक्ति-सुधार व समाज-सुधार, दोनों एक साथ स्वीकृत हैं। एक लक्ष्य व्यक्ति सुधार है, तो दूसरा लक्ष्य समष्टि सुधार।

व्यक्तिगत सुधार हृदय परिवर्तन द्वारा होता है। ऐसे परिवर्तित हृदय वाले व्यक्ति का मन मैत्री व अहिंसा के प्रकाश से भरा हुआ हो। सत्य के प्रति उसके मन में इतनी गहरी निष्ठा हो कि कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी उसका मन दूसरा विकल्प न खोजे। उसका जीवन-व्यवहार और व्यवसाय प्रामाणिकता की कसौटी पर खरा उतरे। उसका साध्य पवित्र हो, भ्रष्टाचार व व्यभिचार की छाया भी उस पर न पड़े।

अतिभाव और अभाव की स्थिति मनुष्य के सुख का अपहरण करती है। अतिभाव मनुष्य को विलासी बनाता है तथा अभाव उसे क्रूर। इन दोनों अतियों से मुक्त अभाव के धरातल का निर्माण कर सकें, तभी व्यक्ति-सुधार की अर्थवत्ता होगी।

समाज-सुधार परिवर्तनपूर्वक होता है। समाज-अस्तित्व के तीन आधार हैं—

कामैषणा—काम की इच्छा, वित्तैषणा—अर्थ की इच्छा, सुत्तैषणा—संतान की इच्छा।

कौटिल्य के अनुसार समाज की नींव में अर्थ ही प्रधान है। व्यवस्था और काम—दोनों का मूल अर्थ ही है। आर्थिक विषमता ही हिंसा, विद्रोह, अनैतिकता, तनाव, आतंक आदि सामाजिक समस्याओं को उभारती है। आज हिंसा के लिए अर्थ नहीं, अर्थ के लिए हिंसा है। अतः अर्थ-संग्रह की समस्या को सुलझाए बिना हिंसा की समस्या नहीं सुलझ सकती। गणाधिपति श्री तुलसी अधिक उत्पादन व समुचित वितरण के स्थान पर संग्रह और अहिंसा के विकास द्वारा इस समस्या को सुलझाने की बात करते हैं।

अतः चाहे व्यक्ति-सुधार हो या फिर समाज-सुधार—दोनों का आधार संयम ही होगा। 'संयम प्रधान व्यक्ति और समाज ही अजेय होता है।'

राजनीति व्यवस्था देती है और अणुव्रत हृदय परिवर्तन। केवल अणुव्रत से समाज की व्यवस्था संभव नहीं और कोरी व्यवस्था से स्वतंत्रता व हृदय परिवर्तन संभव नहीं। स्वतंत्रता और व्यवस्था दोनों का योग ही समाज में सौष्ठव का विकास करेगा।

शांति का सूत्र—विश्व शांति का मार्ग

यह यथार्थ है कि जीवन का आलोक अहिंसा है। स्व सत्-चित् और आनंद की अनुभूति ही अहिंसा है। दूसरों के सत्-चित् और आनंद का अपहरण हिंसा है। मनुष्य की महत्त्वाकांक्षा स्वतः स्वोन्नयन की ओर प्रवृत्त न होकर पर-स्वोन्नयन की ओर प्रस्तुत होती है। पर स्व के स्वीकरण की यही वृत्ति हिंसा का मूल है। जीवन-निर्वाह के साधनों का केंद्रीकरण बढ़ा, फलतः शोषण बढ़ा, हिंसा बढ़ी। पदार्थों का विस्तार हुआ फलतः परिभोग बढ़ा, लालसाएं बढ़ीं। पाशविक-शक्ति का विकास हुआ, फलतः युद्ध व अशांति बढ़ी। अतएव विश्व शांति के लिए अपेक्षा है—

1\. युद्ध न हो। 2. लालसाएं सीमित हों। 3. शोषण न रहे।

राष्ट्र की उन्नति के लिए केंद्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए परिभोग और शक्ति संतुलन की पाशविक शक्ति को उत्तेजन मिलता है। इस महामारी की समाप्ति के लिए संग्रह व शोषण की भावना खत्म करनी होगी, तभी प्रेम व मैत्री का मार्ग प्रशस्त होगा।

विश्वशांति और व्यक्ति की शांति अलग-अलग नहीं हैं। गाल्टुंग भी कहते हैं—'शांति अविभाज्य है।' अशांति का मूल कारण अनियंत्रित लालसा है। व्यक्ति या विश्व—जिसे भी शांति की चाह है, उसे अनियंत्रित लालसा से बचना होगा। शांति के लिए ऐसे अहिंसक समाज का निर्माण अपेक्षित है, जिसमें जीवन का प्रवाह चलता रहे और आक्रमण व शोषण न हो। संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा समाप्त हो जाए।

गणाधिपति श्री तुलसी पुनः कहते हैं—'असीमित आकांक्षाएं व संग्रह असुरक्षा के जनक हैं तथा शस्त्र-स्पर्धा भी इसी का परिणाम है। आज सुरक्षा से भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न मानवीय एकता का है, जिसकी प्रेरणा है—समानता। जाति, रंग, भाषा और राष्ट्रीयता की भिन्नता में भी मानवीय अभिन्नता है। व्यक्तिगत आकांक्षा और अहं इसे भी गौण कर देती है। अपनी समृद्धि एक सीमा तक न्यायसंगत है, किंतु जब वह दूसरों के अस्तित्व को संकट में डालने लग जाए तब वह सर्वमान्य न्यायसंगत धरातल से नीचे उतर जाता है। इसलिए हमें यह स्वीकार करना होगा—

- समाज-रचना का आधार अपरिग्रह और अहिंसा है।
- अहिंसा को व्यवहार में लाना युग की मांग है।
- आवश्यकताओं का विस्तार न हो तथा दूसरे की आवश्यकताओं पर अधिकार करने की कोशिश न हो।
- जातिगत संघर्षों को प्रश्रय न मिले।
- अपनी शांति के लिए दूसरे की शांति का अपहरण न करें।

आज समृद्ध राष्ट्र भी परस्पर घृणा, द्वेष और अविश्वास से पीड़ित हैं। आज वहां भी नैतिक, पुनःशस्त्रीकरण की चर्चा है। जिसका प्रारंभ लगभग 30-35 वर्षों पूर्व डॉ. फ्रेंकबुकमन कर चुके हैं। उनका कहना है—

'हर आदमी को उसकी आवश्यकतानुसार भोजन व वस्त्र मिलना चाहिए—लोभ के अनुसार नहीं।' उनका यह कथन नैतिक पुनरुत्थान के लिए चल रहे 'अणुव्रत आंदोलन' की आचार संहिता से काफी मेल खाता है। विश्वशांति की चाह यथार्थ है तो हमें शम (कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ), सम (समानता) तथा श्रम की प्रतिष्ठा करनी ही होगी। तभी मानवीय एकता को समर्थन मिलेगा। तभी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व संभव होगा। तभी शोषणमुक्त स्वतंत्र समाज की रचना का स्वप्न साकार होगा और तभी नैतिक मूल्यों, मैत्री, निःशस्त्रीकरण एवं शांति प्रयासों को बल मिलेगा और अंततः विश्वशांति का स्वप्न आकार लेगा। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

अगम पंथ के सहचारी

वीरेंद्रकुमार जैन

‘भाग कर जाएगा रे? व्यथा तेरी ही नहीं, तेरी मां और तेरी स्त्रियों की भी तो है। ग्रंथि तोड़ कर नहीं, खोलकर ही निर्ग्रंथ हो सकेगा। अपना भोग्य भोगकर आ, ऋणानुबंध पूरे हुए बिना निस्तार नहीं।’
‘मैं अब क्षण-भर भी बंध और बांध नहीं सकता, स्वामिन्!’
‘न बंधने और न बांधने का अहम् जब तक शेष है, तब तक तू स्वतंत्र कहां? अपनी स्वतंत्रता के लिए अब भी तू औरों पर निर्भर है रे। औरों को लेने या त्यागने वाला तू कौन? वह सत्ता तेरी है क्या? पर को त्यागने का दंभ करके, तू मुक्त होना चाहता है?’
‘तो क्या आज्ञा है, देव?’
‘अपने महल में लौट जा, अपनी मां और अंगनाओं के पास लौट जा। उनसे अपनी अंतर-व्यथा का निवेदन कर। उनकी व्यथा का समवेदन कर, उससे अनुकंपित हो, उनके प्रति समर्पित होकर रह जा। वे तुझे निर्ग्रंथ कर देंगी। मां की जाति है रे, जो गांठ बांधती है, खोलना भी केवल वही जानती है!’

भगवान महावीर का पुण्य स्मरण करते हुए

राजगृही के निकट ही शालि ग्राम में कोई धन्या नामा स्त्री आकर बस गई थी। उसका वंश उच्छेद हो गया था। केवल उसका एक संगमक नामा पुत्र था। संगमक नगरजनों के बछड़ों को चराता था। उस भोले लड़के को अपने योग्य ही एक मृदु आजीविका मिल गई थी। एकदा पर्वोत्सव के दिन, घर-घर पायसान्न का भोजन पाक हुआ। संगमक गंधशालि चावल, दूध, केशर और मेवों की सुगंध में मुग्ध-मगन घर आया। उसने अपनी विपन्ना मां से कहा : ‘मां, मुझे भी पायसान्न खिलाओ’।

रंकिनी धन्या पायसान्न कहां से लाए? और पुत्र की मांग को नकारे भी कैसे? बेटे के सिवाय उसका कौन है जगत में? क्या उसकी इतनी-सी साध भी वह न पूर सकेगी? ....धन्या अपने पुराने वैभव को याद कर तार-स्वर में रुदन करने लगी। ....संगमक अबूझ ताकता रहा। समझ न सका, यह क्या हो रहा है? पर उसकी मां के विलाप से द्रवित होकर एक पड़ोसिन दौड़ आई और उसके दुख का कारण पूछा। धन्या ने सिसकियां भरते हुए अपनी व्यथा कही। ....तत्काल ही पड़ोसिनों ने मिलकर पायसान्न की सारी सामग्री उसे ला दी। धन्या ने हर्षित होकर खीर का पाक किया। फिर बहुत प्यार से एक थाली में बेटे को खीर परोस कर, अन्य गृहकाज में लग गई। संगमक ने अभी खीर का ग्रास न उठाया था। वह, बस उसे मुग्ध होकर देख रहा था।

तभी एक मासोपवासी श्रमण पारण के लिए उसके द्वार पर आ खड़े हुए। संगमक अपने को भूल, भौरा-सा मुनि को देखता रहा। अहो, तपे हुए सुवर्ण-सा कांतिमान यह नग्न पुरुष कौन है? सचेतन चिंतामणि रत्न, जंगम कल्प-वृक्ष, अपशु कामधेनु! ....अहा, मैं कितना भाग्यशाली हूं, कि स्वयं भगवान मेरे द्वार पर याचक होकर आए हैं। कैसा चमत्कार है कि आज चित्त, वित्त और पात्र का त्रिवेणी संगम घटित हुआ है। मेरा संगमक नाम आज सार्थक हो गया! ....ये कैसे शब्द मुझ में फूट रहे हैं!

....संगमक ने कई बार प्रणिपात कर भिक्षुक का वंदन किया। मुनि ने पाणिपात्र पसार दिया। संगमक सारा ही पायसान्न क्रमशः उनकी अंजुलि में उंड़ेलता चला गया। उसे अपनी इच्छा और क्षुधा ही भूल गई। योगी-गुरु तृप्त हो, संगमक पर अनुगृह की एक चितवन डाल, मुस्करा दिए। और चुपचाप अपनी राह चले गए। संगमक उनके दूर जाते पग संचार को देखता रह गया, सुनता रह गया। उसका जी चाहा कि उन्हीं के साथ चला जाए।

तभी उसकी मां वहां आ पहुंची। देखा, थाली खाली पड़ी है और संगमक दूर-दूर तक की राह ताक रहा है। धन्या अपने पुत्र के इस मौन और धुनी स्वभाव को जानती थी। वह तो कभी कुछ मांगता नहीं। आज जाने क्या घटा कि संगमक ने खीर मांग ली। खाली थाली देख मां ने सोचा : मेरा लाल सारी खीर बहुत स्वाद से खा गया न। सो खुश होकर उसने दूसरी बार थाली-भर पायसान्न परस दिया।

संगमक को अब अन्न में रुचि नहीं रह गई थी। उसकी क्षुधा मानो सदा को शांत हो गई थी। लेकिन मां को वह यह सब कैसे बताए। वह विस्मित है, उच्चकित है, बूझ रहा है : यह क्या हो गया है मुझे? ....वह कुछ बोल न सका। उसने मां का मन रखने के लिए विमन, विरत भाव से ही आकंठ उस खीर का आहार कर लिया। ....विचित्र हुआ कि उसी रात संगमक को विशूचिका हो गई और सवेरे द्वार पर आए श्रीगुरु का स्मरण करते हुए ही उसने देह त्याग दी। उस दिन का उसका आत्मदान, आत्मोत्थान का शिखर हो उठा।

× × ×

उस रात संगमक का जीव शालि ग्राम से च्यवन करके जो निकला, तो राजगृही के गोभद्र श्रेष्ठी की भद्रा नामा अंगना के गर्भ में यह कैसा विदग्ध कंपन हुआ! ....उस रात का संसर्ग सुख परा सीमा को पार कर गया। रात्रि के पिछले प्रहर में भद्रा ने स्वप्न में शालि क्षेत्र देखा। लहलहाती हरियाली का प्रसार। प्रातः भद्रा ने अपने भाविक और दैवज्ञ पति से इस स्वप्न का फल पूछा। श्रेष्ठी ने कहा : 'तुझे अक्षत सुख के भोगी पुत्र का लाभ होगा, प्रिये!' यथाकाल भद्रा को ऐसा दोहद हुआ कि वह सात दिनों तक राजगृही की राहों पर रत्न लुटाती हुई निकले। ....और तभी ऐसा हुआ कि गोभद्र की निधि में से रत्नों का मानो स्रोत उमड़ता आया। ....और भद्रा की उस रत्न उछालती मातृमूर्ति को देख लोगों को लगा कि क्या पृथा देवी स्वयं ही प्रकट हो आई है राजगृही के राजमार्गों पर!

नव मास ग्यारह दिन बीतने पर, भद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। मानो कि विदुरगिरि की भूमि ने वैदूर्य मणि को प्रसव किया हो। उसके उद्योत से दिशाओं के मुख उजल उठे। स्वप्न के शालि-क्षेत्रों में से आए पुत्र को नाम दिया गया शालिभद्र। उस मुहूर्त में पांच धात्रियों ने अपने मुक्ताहार पृथ्वी पर बिछाते हुए प्रभु का बारंबार वंदन किया। पद्म-दलों के मार्दव और परिमल में बालक का लालन-पालन होने लगा। ....जब वह आठ वर्ष का हुआ तो गुरुकुल में विद्यार्जन को भेजा गया। ....जो भी सिखाया जाता, शालिभद्र को जैसे पहले ही मालूम था। वह शास्त्रों से भी आगे की बातें बोलता। गुरु ने कहा : 'इसे सिखाने योग्य विद्या मेरे पास नहीं है....!' शालिकुमार घर लौट आया। वह जगत प्रवाह को देखता रहता। वह सोए में भी जागता हुआ, सृष्टि के हर पदार्थ को, हर पर्याय को, एक बहुरंगी मणि की तरह निहारता रहता। हर वस्तु के भीतर एक हीरा है, जिसमें कभी लाल किरण फूटती है, कभी नीली, कभी पीली, कभी हरियाली।

एकदा उषःकाल में शालिभद्र अकेला ही वन-विहार करके घर लौट रहा था, तो उसने राह में देखा, घरों के द्वार-पल्लों की ओट से, गवाक्षों से, जाने कितनी ही चितवनें उसे एकटक निहार रही हैं!

कालांतर में युवा होकर शालिकुमार, युवति-जन का वल्लभ हो गया। राह चलते जाने कितनी सुंदरियों के मन मोहता हुआ, वह नवीन प्रद्युम्न की तरह लोक में विचरता रहता है। उपद्रवी है यह लड़का, सब जमे-जमाए को यह तोड़-फोड़ देता है। इसके चलने से स्थापित नीति-मर्यादाएं खतरे में पड़ जाती हैं। सो नगर के सरपंच श्रेष्ठियों ने गोभद्र को बुलाकर उसके साथ गंभीर परामर्श किया। ....और शुभ लग्न में बत्तीस श्रेष्ठि-कन्याएं शालिकुमार को ब्याह दी गईं। लड़के को मन ही मन हंसी आती रही। केवल बत्तीस? इतने से क्या होगा! गिनती की बत्तीस? मर्यादा की इस बेड़ी में अनंत रमण-सुख कैसे संभव है? वह निराकुल कैसे हो सकता है? और वे उतनी-सारी आंखें क्या प्यासी ही रह जाएंगी?

लेकिन ये बत्तीस कुमारिकाएं, जाएं तो कहां जाएं? इन्हें सुख न दे सकूं, तो वह मेरी ही सीमा होगी। मैं इतना छोटा कैसे पड़ सकता हूं?....और शालिभद्र उन अंगनाओं के साथ आचूड़ विलास में डूब गया। दिन-रात का भेद लुप्त हो गया। रत्न-दीपों की सांद्र प्रभा में, पराग के पेलव

शयनों पर स्पर्श-सुख का मार्दव और दबाव अगाध होता गया। एक ऐसी प्रगाढ़ता, जिसमें चेतन अचेतन हो जाता, अचेतन चेतन हो जाता। अपने भीतरी आकाश के पलंग पर, शालिकुमार जैसे सागर-मेखला में तरंगों पर उत्संगित हो रहा था। जैसे शून्य के फलक पर हर समय नई चित्रसारी हो रही थी। पर्याय के प्रवाहों पर वह उन्मुक्त तैरता जा रहा था।

इस बीच गोभद्र श्रेष्ठी चरम तक पार्थिव सुख भोग कर विरागी हो गए। उन्होंने जिनेंद्र महावीर के चरणों में भागवती दीक्षा ग्रहण कर ली। भूख-प्यास से ऊपर ठठ कर, हवा और जल तक से अनिर्भर होकर, उन्होंने प्रायोपगमन संन्यास द्वारा देह त्याग कर दिया और देवलोक में चले गए।....वहां से अवधिज्ञान द्वारा वे पुत्र की इस हंस-लीला का निरंतर अनुप्रेक्षण करते रहते। नेपथ्य में रहकर ही पुत्र के रत्न-विमान जैसे विलास-महलों में कल्प-वृक्ष की तरह सारी मनोवांछित भोग-सामग्रियां वे प्रकट करते रहते।

इस भोग-चर्या में तल्लीन शालिभद्र ने, वर्षों से दिन का उजाला तक नहीं देखा था। भोग की लीनता में भी, वह एक और ही उजाला देखने में तन्मय था। सो बाहरी घर-संसार का सारा काम-काज भद्रा सेठानी ही चलाया करती थी।

× × ×

अन्यदा हंस द्वीप का एक रत्न-व्यापारी कुछ रत्न-कंबल ले कर श्रेणिकराज के दरबार में उपस्थित हुआ। उनका मूल्य इतना अधिक था कि श्रेणिक ने उनका क्रय करने से इनकार कर दिया। व्यापारी घूमता-घामता एक दिन शालिभद्र की हवेली पर आ पहुंचा। भद्रा सेठानी ने मुंह-मांगा द्रव्य देकर वे रत्न-कंबल खरीद लिए। योगात् एक दिन चेलनादेवी ने महाराज से कहा : 'मुझे एक रत्न-कंबल चाहिए।' राजा ने तुरंत हंस द्वीप के रत्न-श्रेष्ठी को बुलावा भेजा। श्रेष्ठी ने कहा, अब वे रत्न-कंबल कहां! भद्रा सेठानी ने सारे ही तो खरीद लिए। ....ओ, तो राजगृही में ऐसी भी कोई धन-लक्ष्मी है, जिसने वे सारे रत्न-कंबल खरीद लिए, जिन्हें स्वयं मगधनाथ भी न खरीद सका! आश्चर्य! राजा ने तुरंत एक दूत को सेठानी की हवेली भेजा कि जो मांगे, मूल्य देकर एक रत्न-कंबल ले आए। भद्रा ने कहा : 'उन सारे रत्न-कंबलों के टुकड़े कर मैंने अपनी पुत्र-वधुओं को पैर पोंछने के लिए दे दिए हैं। यदि उन जीर्ण कंबलों से काम चल जाए तो महाराज से पूछ आओ और ले जाओ। मूल्य उनका हो ही क्या सकता है। शालिभद्र के भोग्य पदार्थ का मूल्य कौन चुका सकता है!'

कौन है यह शालिभद्र, जिसके भोग और ऐश्वर्य ने सर्वभोक्ता श्रेणिक की सामर्थ्य को भी परास्त कर दिया? राजा ने संदेश भेजा कि शालिभद्र आ कर उनसे मिले। वे उस लोकोत्तर युवा को देखना चाहते हैं। तब भद्रा सेठानी ने स्वयं आकर महाराज से नम्र निवेदन किया कि : 'देव, मेरा पुत्र तो बाहरी सूर्य का उजाला देखता नहीं। बरसों हो गए, वह धरती पर चला नहीं। सो वह तो आ सकता नहीं। कृपा कर महाराज स्वयं ही हमारे महल पधारें और शालिभद्र को अपने दर्शन से कृतार्थ करें।'

श्रेणिक अपनी जिज्ञासा को टाल न सके। वे नियत समय पर भद्रा के 'इंद्रनील प्रासाद' में मेहमान हुए। वहां का स्वप्न-वैभव देख कर वे अवाक् रह गए। मानो अच्युत स्वर्ग के कल्प-विमान में आ बैठे हों। ऐसा अपार ऐश्वर्य कि उसमें रमते ही मन विरम जाए, विश्रब्ध हो जाए। प्रासाद के चौथे खंड में सम्राट एक हंस-रत्न के सिंहासन पर आसीन हुए। नाना प्रकार से, नाना भोग-द्रव्यों द्वारा उनका आतिथ्य किया गया। देवांगनाओं-सी सुंदर दासियां उन पर विजन डुलाती रहीं।

तब भद्रा सेठानी ने सप्तम खंड पर जा कर शालिभद्र से कहा : 'बेटा, सागर-मेखलित पृथ्वी के अधीश्वर सम्राट श्रेणिक स्वयं तुझ से मिलने आए हैं। चतुर्थ खंड में विराजित वे तेरी प्रतीक्षा में हैं। ....जिस श्रेणिक को देखने को सारा जगत उत्सुक रहता है, वही श्रेणिक आज तुझे देखने को उत्सुक हैं!'....शालिकुमार शून्य ताकता रह गया। वह कुछ समझ न सका।

'श्रेणिक? यह कौन पदार्थ है, मां? जानती तो हो, मैं तो कोई क्रय-विक्रय करता नहीं। तुम्हीं सब देखती हो। तुम्हारे काम का हो यह पदार्थ, तो जो मांगे दाम दे कर ले लो!'

भद्रा सेठानी हंस पड़ीं। आस-पास घिरी वधुएं भी एक-दूसरी से गुंथ कर, हंस-हंस कर लाल हो गईं। भद्रा ने कहा : 'श्रेणिक पदार्थ नहीं है, बेटा। वे तो चक्रवर्ती राजा हैं। वे तो हम सब प्रजाओं के स्वामी हैं। वे मेरे भी स्वामी हैं, तेरे भी स्वामी हैं।'

'मेरा भी कोई स्वामी है, मां?'

'हां बेटा, राजा तो सब का स्वामी है, तो तेरा भी है ही!'

'तो मेरे ऊपर भी कोई है इस जगत में?'

'राजा तो सब के ऊपर है, तो तेरे ऊपर भी है ही!'

'तो मैं स्वाधीन नहीं?'

'स्वाधीन यहां कौन है? हर एक के ऊपर कोई है।'

'तो मैं किसी के अधीन हूं?'

'अधीन यहां कौन नहीं? हम सब परस्पर के अधीन हैं!'

'तो मैं स्वतंत्र नहीं?'

'स्वतंत्र यहां कौन है? ये तेरी बत्तीस अंगनाएं, क्या ये तेरे अधीन नहीं? और क्या तू इनके अधीन नहीं? क्या तू इनके वशीभूत नहीं?'

'ओ, तो मैं यहां बंदी हूं, मैं कारागार में हूं। मैं स्वाधीन नहीं? मैं स्वतंत्र नहीं? मेरा भी कोई स्वामी है? मेरे ऊपर भी कोई है? हम सब एक-दूसरे के दास हैं? हम सब एक-दूसरे के बंधन हैं? हम सब परस्पर की बेड़ियां हैं?'

भद्रा सेठानी और उसकी सारी पुत्र-वधुएं शालिभद्र के उस विक्रांत-उत्क्रांत रूप को देखकर भयभीत हो गईं। मानो कि यह उद्यत पुरुष इसी क्षण सब-कुछ को ध्वस्त करके भाग निकलेगा। एकाएक शालिकुमार में संवेग जाग्रत हो उठा। वह बोला : 'जहां मेरा भी कोई स्वामी है, जहां मेरे ऊपर भी कोई है, जहां कोई भी स्वाधीन नहीं, जहां हम सब एक-दूसरे के बंदी हैं, उस लोक में अब मैं नहीं ठहर सकता!...'

कह कर शालिभद्रकुमार, हठात् वहां से पलायमान हो गया। किसी की हिम्मत न हुई कि उस प्रभंजन को रोक सके। देखते-देखते वह किसी विदेशी विहंगम की तरह, सब की आंखों और पकड़ से परे, जाने किन आसमानों में उड़ निकला। सेठानी का सारा परिकर उसकी खोज में निकल पड़ा। लेकिन शालिभद्र ऐसा चंपत हुआ कि दूर-दूर तक उसका कोई पता-निशान ही न मिल सका।

'इंद्रनील प्रासाद' के विस्तृत उद्यान के पश्चिमी छोर पर, प्राकृतिक वन-भूमि है। गोभद्र श्रेष्ठी ने वैभार पर्वत की एक गुफा कटवा कर मंगवा ली थी और उसे इस वनखंडी में स्थापित करवा दिया था। भूमि से जुड़ कर वह प्राकृतिक ही लगती थी। गोभद्र श्रेष्ठी भावज्ञानी था। उसमें आत्मा की कविता स्फुरित थी। उसे कल्पना हुई कि वैभार गिरि की गुफा उसके उद्यान में आए और वह उसमें ध्यान-साधना करे। कौन जाने कभी योगीश्वर महावीर ने ही उसमें कायोत्सर्ग ध्यान किया हो! उसका सपना सिद्ध हुआ, गुफा का नाम रख दिया—'चिन्मय गुहा।'

उस दिन शालिभद्र भाग कर और कहीं न गया था, इस 'चिन्मय गुहा' में ही जा घुसा था। भद्रा सेठानी के अनुचर योजनों तक शालि को खोज आए थे, घर-उद्यान का कोना-कोना छान मारा था। लेकिन इस गुहा के अंधकार में प्रवेश करने की उनकी हिम्मत न हो सकी थी। और भला जो सांकल तुड़ाकर भागा है, वह इस गुहा में क्यों छुपेगा? ....लेकिन बचपन से ही शालिकुमार इस गुहा से आकृष्ट था। अपने अंतर्मुखी भाविक पिता को उसने इस गुहा के अंधकार में प्रायः ध्यानस्थ देखा था। तब से इस कंदरा का गोपन एकांत उसे बेतहाशा खींचता रहता था। ....सो उस दिन इसी गुहा में घुस कर, वह इसके तमाम अंधेरों का भेदन करता हुआ, इसके पार निकल जाने का चरम संघर्ष कर रहा था।

चलते-चलते गुफा के भीतर एक और अंतर्गुफा सामने आई। उसमें एक निरावरण पुरुष, प्रतिमा-योगासन में ध्यानस्थ बैठा था। वह अपनी ही आंतर विभा से भास्वर था। उसकी पृष्ठभूमि में एक अथाह नील शून्य था। शालिभद्र अवाक्, विमुग्ध देखता ही रह गया। उसके हृदय की व्यथा से अनुकंपित होकर धर्मघोष मुनि समाधि से बाहर आए। उनकी प्रशम रस से विजड़ित दृष्टि को देख, शालिभद्र को किसी अननुभूत सुख का रोमांच हो आया। मुनि ने उसकी ओर सस्मित निहारा और शालिभद्र से पूछते ही बना : 'क्या करने से राजा का स्वामित्व न सहना पड़े, देव?'

'मेरे जैसा ही नंग-निहंग हो जा, तो दिग्विजयी चक्रवर्ती का शासन भी तुझ पर नहीं चल सकता!'

'तो इसी क्षण मुझे अपने जैसा बना लें, भगवदार्य!'

'भाग कर जाएगा रे? व्यथा तेरी ही नहीं, तेरी मां और तेरी स्त्रियों की भी तो है। ग्रंथि तोड़ कर नहीं, खोलकर ही निहंग हो सकेगा। अपना भोग्य भोगकर आ, ऋणानुबंध पूरे हुए बिना निस्तार नहीं।'

'मैं अब क्षण-भर भी बंध और बांध नहीं सकता, स्वामिन्!'

'न बंधने और न बांधने का अहम् जब तक शेष है, तब तक तू स्वतंत्र कहां? अपनी स्वतंत्रता के लिए अब भी तू औरों पर निर्भर है रे। औरों को लेने या त्यागने वाला तू कौन? वह सत्ता तेरी है क्या? पर को त्यागने का दंभ करके, तू मुक्त होना चाहता है?'

'तो क्या आज्ञा है, देव?'

'अपने महल में लौट जा, अपनी मां और अंगनाओं के पास लौट जा। उनसे अपनी अंतर-व्यथा का निवेदन कर। उनकी व्यथा का समवेदन कर, उससे अनुकंपित हो, उनके प्रति समर्पित होकर रह जा। वे तुझे निर्ग्रंथ कर देंगी। मां की जाति है रे, जो गांठ बांधती है, खोलना भी केवल वही जानती है!'

और एक दिन अप्रत्याशित ही शालिभद्र शांत-मौन भाव से महल में लौट आया। उस दिन सारा अवसन्न महल अचानक उत्सव के आनंद में मगन हो गया। यथा प्रसंग शालिकुमार ने मां और पत्नियों को क्रमशः अपनी पुकार कह सुनाई। मां की आंखें हर्ष के आंसुओं से भर आई। बोली : 'जनम के ही योगी रहे तेरे बापू, बेटे। उन्हीं के तेजांश ने तो मेरी कोख भरी थी एक दिन। योगी का वीर्य नीचे कैसे आ सकता है, ऊपर ही तो जाएगा!'—कहकर मां ने मौन-मौन ही नयन भर कर अनुमति दे दी। अनंतर हर रात शालिभद्र अनुक्रम से अपनी प्रत्येक पत्नी के साथ बिताने लगा। ....सबेरे उठ कर हर पत्नी, अपने स्वामी के मुक्तिकाम को समर्पित हो जाती। हर सवेरे वह एक और रमणी, एक और शैया से उत्तीर्ण हो जाता।

हर पत्नी अपने पति के इस सर्वजयी पौरुष के प्रति निःशेष समर्पित होती गई। सब की निगाहें उस महापंथ पर लगी थीं, जिस पर एक दिन उनका प्राणनाथ प्रयाण करता दिखाई पड़ेगा। ....और फिर वे भी तो उसी के चरण-चिह्नों पर चल पड़ेंगी!

× × ×

राजगृही का धन्य श्रेष्ठी नवकोटि हिरण्य का स्वामी था। वह शालिभद्र की छोटी बहन विपाशा का पति था, सो उसका बहनोई था। दोनों में परस्पर बड़ी प्रगाढ़ मैत्री थी। विपाशा अपने भाई के गृह-त्याग की तैयारी से बहुत उदास और शोकमग्न रहने लगी थी। गर्व भी कम न था, कि उसका भाई महाप्रस्थान के पंथ पर आरोहण करेगा। लेकिन, नारी होकर ममता के आंसुओं की राह ही तो वह अपने भाई को मोक्ष-यात्रा का श्रीफल भेंट कर सकती थी। शालिभद्र की मां और पत्नियां भी तो आठों याम ममता के अश्रुफूल बरसा कर ही उसे समता के सिंहासन पर चढ़ने को भेज रही थीं।

उस दिन अपने पति धन्य श्रेष्ठी को नहलाते हुए, विपाशा की आंख से एक आंसू सहसा ही धन्य के चेहरे पर टपक पड़ा। विनोदी धन्य ने मजाक किया : 'आज मुझ पर ऐसा प्यार उमड़ आया कि अश्रुजल से नहला रही हो?' विपाशा चुप हो रही। तो चपल धन्य श्रेष्ठी ने फिर उसे छेड़ा : 'अरे विपाशा, ऐसी भी क्या रूठ गई, जरा-से मजाक पर!' विपाशा भरे गले से बोली : 'तुम्हें तो हर समय मजाक ही सूझता रहता है। मेरा भाई हर दिन एक और शैया, एक और स्त्री त्याग कर जोगी होने जा रहा है और तुम्हें कुछ होश ही नहीं?' धन्य और जोर से खिलखिलाकर बोला : 'अरे खूब होश है, विपाशा। तेरा भाई हीनसत्त्व है, असमर्थ है, कि बत्तीस परम सुंदरियों का अंतःपुर त्याग कर, जंगल की धूल फांकने जा रहा है! छिः यह कायरता है। यह नपुंसकता नहीं, तो और क्या है?'

यह सुनकर विपाशा तो एक गहरे मर्माघात से विजड़ित और मूक हो रही। पर उसकी अन्य स्त्रियों ने परिहास में अपने पति धन्य को ताना मारा : 'हे नाथ, यदि आप ऐसे महासत्त्व और शूरमा हैं, तो हम भी देखें आपका पौरुष! है हिम्मत कि आप भी हमें त्यागकर आरण्यक हो जाएं!'

धन्य ने भी लीला-चंचल हंसी हंसकर ही तपाक् से कहा : 'साधु साधु, मेरी पतिव्रताओ! तुम धन्य हो, तुम मेरी सतियां हो। तुमने मेरे मोक्ष-कपाट की अर्गला खोल दी। यों भी शालिकुमार से वियुक्त होकर मैं भला क्या इस घर में रहने वाला था! सोच ही रहा था, कैसे तुम्हारे मायापाश से मुक्ति मिले। ...लेकिन, मेरा अहोभाग्य कि तुमने स्वयं ही काट दिए मेरे बंधन। मैं चला देवियो, लोकाग्र के तट पर फिर मिलेंगे!' कहकर धन्य उठ खड़ा हुआ।

स्त्रियों ने रो-रोकर उससे अनुनय की कि 'वह तो हमने निपट विनोद में ही कह दिया था, उससे भला इतना बुरा मान गए? ....नहीं, हम भी पीछे न छूटेंगी। तुम्हारी सतियां होकर तुम्हारा सहगमन ही करेंगी। तुम जिस जंगल में विचरोगे, हम उसकी धूल होकर तुम्हारे चरणों में लोटती रहेंगी।' धन्य बोला : 'धूल होकर क्यों रहोगी, चाहो तो अपने ही सौंदर्य का फूल होकर रहना!'

कह कर धन्य श्रेष्ठी उस अर्द्ध-स्नात, अर्द्ध-वसन अवस्था में ही वैभारगिरि की ओर प्रयाण कर गए। और उनकी तमाम पत्नियां भी अपने-अपने मणि-कंकण और रत्न-मुक्ताहार राहगीरों को लुटाती हुई, उनका अनुगमन कर गई।

उधर 'इंद्रनील प्रासाद' में बत्तीसवीं रात का प्रभात

हुआ। अंतिम शैया और अंतिम रमणी भी पीछे छूट गई। शालिभद्र महापंथ की पुकार पर निकल पड़ा। द्वार पर मां भद्रा और बत्तीस अंगनाएं निरुपाय ताकती रह गईं। देखते-देखते शालिभद्र दृष्टिपथ से ओझल हो गया।

क्षण-मात्र में ही सारी पृथ्वी घूम गई। उसकी एक और परिक्रमा पूरी हो गई। उसके चारों ओर सूर्य की एक और प्रदक्षिणा भी पूरी हो गई। द्वार पर खड़ी स्त्रियां भी फिर महल में न लौट सकीं। वे भी अपनी-अपनी अलक्ष्य राह पर निकल पड़ीं, उसी एक लक्ष्य पर जा पहुंचने के लिए।

× × ×

वैभार गिरि पर श्री भगवान का समवंसरण विराजमान है। श्रीमंडप में एक ओर खड़ा है धन्य श्रेष्ठी। और जाने कितनी स्त्रियां उसके पीछे खड़ी हैं। वे यहां मोक्ष लेने नहीं आईं, अपनी प्रीति को अनंत करने आई हैं!

दूसरी ओर खड़ा है शालिभद्र, ठीक श्री भगवान के सम्मुख, निर्भीक, मस्तक उठाए। और उसके पीछे खड़ी हैं भद्रा-मां, और बत्तीस नवोढ़ाएं। वे एक और ही नवीन परिणय की प्रतीक्षा में हैं। श्री भगवान चुप हैं। हठात् वह स्तब्धता भंग हुई। शालिभद्र का अंतिम अहं तीर की तरह छूट कर मुखर हो उठा : 'देखता हूं, यहां भी मेरी वेदना का उत्तर नहीं है। यहां भी तो मेरे ऊपर एक त्रिलोकीनाथ बैठा है। यहां भी तो मेरे ऊपर एक स्वामी है। मैं अर्हत् के राज्य में भी स्वतंत्र नहीं?'

'अरे अंत तक अन्य को देख कर ही जिएगा रे शालिभद्र, अपने को नहीं देखेगा? अंत तक पर को देखकर ही अपना मूल्य आंकेगा? अपने को देख और जान कि ऊपर है या नीचे है। ....देख....देख....देख....!'

शालिभद्र एकाग्र भगवान की आंखों में आंखें डाले रहा। और फिर प्रभु का अगाध स्वर सुनाई पड़ा : 'देख, तू मेरे ऊपर बैठा है, शालिभद्र! देख, तू त्रिलोकीनाथ के तीन छत्र के ऊपर बैठा है। तू अशोक वृक्ष के भी ऊपर, अधर में आसीन है!'

और शालिभद्र ने खुली आंखों देखा : सचमुच ही वह लोकालोक के छत्रपति के मस्तक पर आरूढ़ है।

'देख, देख शालिभद्र, तू लोकाग्र पर बैठा है, और तू लोकतल के अंतिम वातवलय में खोया जा रहा है। तू इसी क्षण सबसे ऊपर है, तू इसी क्षण सर्व के चरण तले पड़ा है!....'

'यह क्या देख रहा हूं, भंते त्रिलोकीनाथ। मैं ऊपर भी नहीं हूं, नीचे भी नहीं हूं। आगे भी नहीं हूं, पीछे भी नहीं हूं। मैं इसी क्षण अपने स्व-समय में, अपने स्व-द्रव्य में स्वतंत्र खेल रहा हूं!'

'तेरे चरम अहं का आवरण छिन्न हो गया। तेरा अंतिम अहंकार टूट गया। तू अर्हत् का आप्त हुआ, शालिभद्र! तू स्वयं का नाथ हो कर, सर्व का नाथ हो गया। तेरी जय हो!'

और वे कितनी-सारी ममताली स्त्रियां, प्रभु के उस अनंगजयी मुख की मोहिनी में बेसुध हो रहीं। नारी होकर, वे तो जन्मना ही समर्पिताएं थीं। अहंकार वे क्या जानें, मिटने के लिए ही मानो वे जन्मी हैं। प्रभु की तत्त्व-वाणी वे न समझीं। केवल उस श्रीमुख की मोहिनी से विद्ध होकर, वे उसे समर्पित हो गईं, जो उनके असीम समर्पण को झेलने में एकमात्र समर्थ पुरुष है। उन्हें अपना परम प्रीतम मिल गया। वह, जो एक ही क्षण में शालिभद्र भी है, धन्य भी, महावीर भी है।

यहां पुरुष स्त्री के अस्तित्व की शर्त नहीं। स्त्री पुरुष के अस्तित्व की शर्त नहीं। कोई किसी के ऊपर या नीचे नहीं। सब यहां समकक्ष हैं, वे परस्पर के पूरक हैं, प्रेरक हैं। परस्पर के कर्ता, धर्ता, हर्ता नहीं। समर्पण के इस राज्य में, स्त्री, पुरुष, शूद्र, दास, संपन्न-विपन्न, राजा-प्रजा—कोई किसी के होने की, अनिवार्यता नहीं।

तभी सम्मुख प्रस्तुत स्त्रियों को संबोधन किया प्रभु ने : 'मांओ, तुम अपने भाव से ही कृतार्थ हो गईं। तुम्हारा समर्पण ही तुम्हारा मोक्ष हो रहा। तुमने शाश्वत काल में कितने ही गोभद्रों, कितने ही शालिभद्रों और कितने ही धन्यों को स्वयं जन्म दे कर, जन्म-मरण के पार पहुंचा दिया। मातृजाति के इस ऋण से महावीर कभी उऋण न हो सकेगा!'

कितने-सारे पुरुष और कितनी-सारी स्त्रियां, प्रभु के पाद-प्रांतर में, अपनी ही सत्ता में स्वतंत्र विचरते दिखाई पड़े। कोई किसी का स्वामी नहीं, दास नहीं। कोई किसी के ऊपर नहीं, नीचे नहीं।

वे सब किसी अगमगामी महापंथ के विहंगम सहचारी हैं। ❖

नरेश मेहता की कविताएं

•

ओ तपः पार!

प्रभु! मैं किसे मांगूं?
तुम्हें?
या तुम्हारे दुख को?

कहते हैं
व्यक्ति से बड़ा होता है उसका दुख
क्या तुमसे भी बड़ी है
तुम्हारी यह सृष्टि?

जिसमें मैं हूं—
मुझ जैसे अनेकों नगण्य हैं।
क्या हम दुख ही रहे?
रहेंगे
तुम्हारे प्रभु?

तब क्या तुम से भी—
अपने को?
इस अपात्रता को?
दुख को ही मांगना होगा?
इसे ही प्राप्त करने के लिए
तप करना होता है?

ओ तपः पार!
तब तुम्हारे लिए क्या करना होता है?

•

प्रार्थना

ओ वरेण्य पिता!

हर गर्व के पथ में
विनत दूर्वा बनूं
यह वर्चस्व दो

ओ वरेण्य पिता!

आग झुलसाए मनुज को जो
स्वाहा हो सकूं उसमें प्रथम
यह पुण्य दो

ओ वरेण्य पिता!

लिख सकूं प्रत्येक की
हाहाकार-कोलाहल कथा
यह एकांत दो

ओ वरेण्य पिता!

•

यह एकांत

यह समर्पित एकांत—
मेरा कर्म
मेरा धर्म
मेरा स्वत्व है
मैंने इसे संन्यासवत् ही
स्वीकारा प्रभु!

यह समर्पित एकांत—
सब का कर्म
सब का धर्म
सब का स्वत्व है
मैंने इसे निर्माल्यवत् ही
स्वीकारा प्रभु!

•

विडंबना

सत्य की शोध में
मैंने उस दिन अपने संपाती को भेजा
सूर्य ओर—

और
वह जाने किन आकाशों से
टूट कर लौट आया।

उसे विनेत्र देख
मैंने कहा—

सत्य आग्नेय है!!

उसे झुलसे देख
मैंने कहा—

सत्य तेजस् है!!

उसे लौटे देख
मैंने कहा—

सत्य अप्राप्य है!!

लोगों ने तपस्वी संपाती को नहीं
मुझे ऋषि कहा।

•

मेरा संकल्प

समुद्र को दिया हुआ दान
कहते हैं
प्रभु तक जाता है
क्योंकि वह ब्राह्मण है।

आज सिंधु-पूजा थी—
उसके विराट् पात्र में
उतरा रहे थे
फूल-फल-मालाएं
नारिकेल।

मैं क्या दूं?
मैं क्या दूं इस ब्राह्मण को?
फिर भी अपने को सौंप दिया
ज्वारों को।

पर उस सुपात्र ने
ज्वारों से कहा—
लौटा दो इस विकल्पी को
देह नहीं
संकल्प चाहिए।

सच—
मेरा संकल्प
मेरी प्रतीक्षा में
तट पर ही बैठा था

मैं तब लौटा था।

❖

शीलन

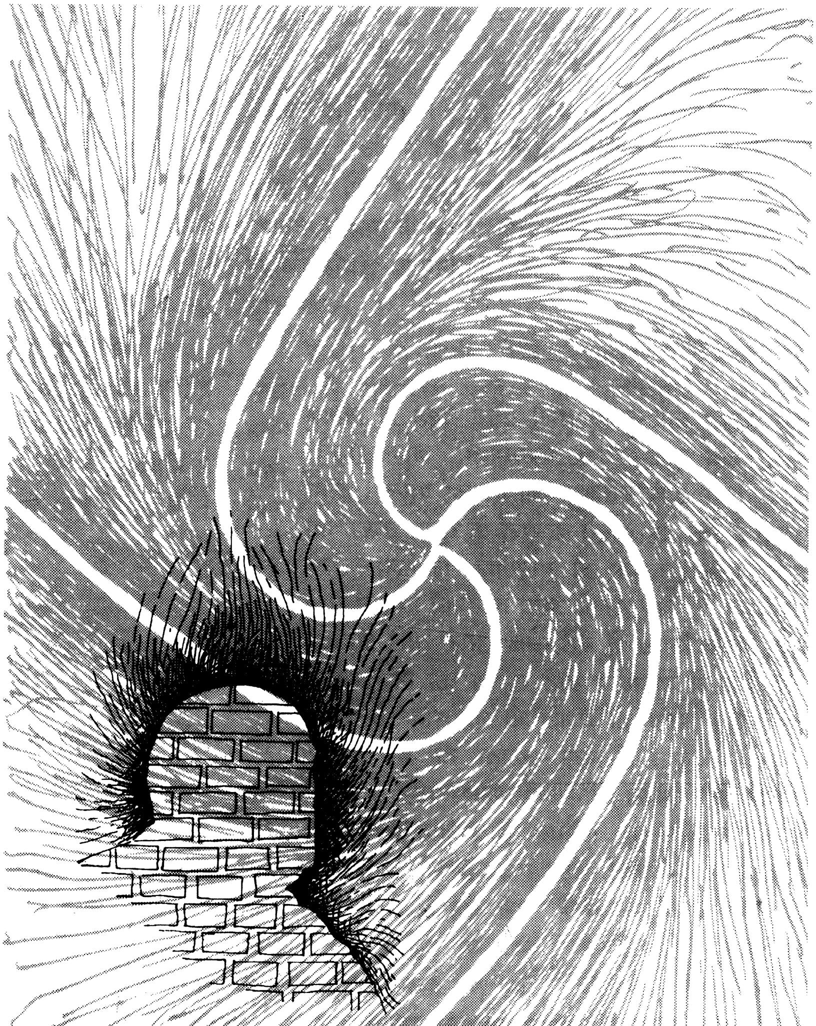

जिस व्यक्ति की बाहरी परीक्षा की ही आदत पड़ जाती है, वह प्रतिदिन दंभी बनता जाता है। उसके मन में हर समय यही खयाल बना रहता है कि लोग उसके बारे में क्या सोचेंगे, कैसा महसूस करेंगे, कैसा मूल्यांकन करेंगे आदि-आदि। परिणाम यह होता है कि उसे अपनी अंतरात्मा के कथन को रोकना पड़ता है, आंतरिक वेगों को दबाना पड़ता है और अंत में भीतर से शून्य होकर बाहर अकेले पड़े रहना पड़ता है।

—गिजुभाई

जितं जगत केन : मनोहियेन

मुनि मोहनलाल 'शार्दूल'

मन विभिन्न दृष्टिकोणों का महान पिटारा है। उसकी कल्पनाओं का कोई ओर-छोर नहीं है। हर विषय में उसका विपरीत चिंतन चलता रहता है। सुखात्मक को दुखात्मक तथा दुखात्मक को सुखात्मक बना लेना उसके बाएं हाथ का खेल है। निर्धनता सामान्यतया चिंता व खिन्नताजनक मानी जाती है। वैसे निर्धनता और संपन्नता भी सापेक्ष हैं। अपने से संपन्न व्यक्ति के सामने हर व्यक्ति असंपन्न—निर्धन है, अपने से गरीब के आगे धनवान है। हर विषय और परिस्थिति में यह सत्य समान रूप से लागू है। न्यूनाधिक की सब कल्पनाएं मन की हैं। मन में संतोष व समत्व आते ही ये विकल्प उपशांत हो जाते हैं।

धर्मशास्त्रों, नीतिग्रंथों और दार्शनिकों, तत्त्वमर्मज्ञों, विचारकों व साधकों ने मन की निश्चलता, निर्मलता, नियंत्रितता, निश्चिंतता और प्रशांतता की बड़ी वकालत की है, प्रबल प्रेरणा दी है। हर दशा में मन अनुशासित, संतुलित, द्वंद्व-मुक्त, सुस्थिर और शांत रहे—यह अभीष्ट है।

मन हमारे जीवन का सर्वेसर्वा है। मन बहुत प्रचंड शक्तियों का पुंज है। आत्मकर्तृत्व में उसका प्रमुख योगदान रहता है। मन ही हमारी वृत्ति, प्रवृत्ति का प्रवर्तक, परिष्कारक, प्रसारक और प्रतिष्ठायक है। वही हमारे आध्यात्मिक, लौकिक, वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यकलाप का, आचार-विचार का संचालक, संग्राहक और संशोधक है। सब दिशाएं वही निर्धारित करता है। मन ही हमारे विभिन्न भावों का उत्पादक और नियंता है।

मानसिक भाव ही शिखर चढ़ाते हैं और मनोवृत्तियां ही पतन के रसातल में पहुंचाती हैं। संसार का समग्र विस्तार और निस्तार यह चित्त ही है। मनोवेत्ता मर्मज्ञ ऋषि का रहस्योद्घाटन है—

चित्तमेवहि संसारो रागादिक्लेश—वासितम्
तदैव तैविनिर्मुक्तं भवान्त दूति कथ्यते

—राग, मोह, द्वेष, क्लेश आदि विकारों से भरा चित्त ही संसार है और उससे मुक्त चित्त ही भवांत, संसार-मुक्ति है। भगवान महावीर ने भी मन का चरम सामर्थ्य स्वीकारते हुए कहा है—

एगेजिए जिया पंच पंच जिए जिया दस
दसहा हु जिणित्ताणं सव्व सत्तु जिणामहं

—एक मन को जीत लेने पर सब पर विजय पा ली जाती है। मन के सिवा जीतना है भी क्या? मन को ही जीतना है। मन ही सब शत्रु, द्वंद्व और समस्याएं खड़ी करता है। आद्य शंकराचार्य ने भी इस तथ्य को बखूबी पहचाना। उनका सटीक संदेश है—**जितं जगत् केन? मनोहियेन'**।

जगत को किसने जीता—प्रश्न को समाहित करते हुए कहा है—जिसने मन को जीता। जगत की रचना मन ही करता है। सारा ताना-बाना मन का ही

है। मन की ही सब उधेड़-बुन है। मन ही परम शांति का साधक है और मन ही दुविधा, व्यथा का जनक है। योगवाशिष्ठ में डंके की चोट उल्लेख है—

मनो हि जगतां कर्ता, मनो हि पुरुषः स्मृतः
मनः कृतं-कृतं रामः, न शरीर कृतं कृतम्।

—सृष्टि का स्रष्टा मन है। 'एकोहं बहु स्याम्'—इसी मन की उदग्र कल्पना से संसार का उद्भव हुआ। मन अपने एकत्व में संतुष्ट, परितृप्त नहीं रह सका, तो बहुत्व की रचना की। मन ही पुरुष है। मन का किया ही होता है। मन सचेतन है। सचेतन में ही स्पंदन होता है। उसी से धारा बह सकती है। शरीर तो जड़ है। उसमें कर्तृत्व-शक्ति नहीं है। वह तो मन का दास है। खिलौना है। क्रिया का मुख्य कारक शरीर नहीं है। उसकी क्रिया शून्य है। मन ही उसमें प्राण और रंग भरता है।

भगवान बुद्ध ने भी मन की अदम्य शक्ति का आकलन कर व्याख्यायित किया है। उनका मार्मिक कथन है—

मनो पुव्वंगमा धम्मा मनोसेद्धा मनोमया
मनसा चे पदुठेन भासति वा करोतिवा
ततोनं दुक्ख मन्वेति छाया व अनपाथिनी

—सारे धर्म, आचरण और कर्म मनपूर्वक होते हैं। पहले मन के भाव उभरते हैं। चिंतन चलता है, अंदर में योजना बनती है—तब मानसिक प्रेरणा से कार्य संपन्न होता है। प्रदुष्ट चित्त से, मलिन मन से अगर वचन का या तन का कोई प्रयोग किया जाता है, तो वह दुखदायक बनता है। श्रेष्ठ-सात्त्विक मन से किया गया कर्म सुख-शांति का संवाहक बन जाता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। कर्म के साथ सुख-दुख का अनुगमन अपनी छाया के समान निराबाध है।

बंधन मोक्ष का हेतु—मन

श्रमण संस्कृति के शिखर पुरुष भगवान महावीर ने प्रज्ञापना सूत्र में कहा है—**परिणामें बंधो, परिणामें मोक्खो**—मन के परिणाम-भाव ही बंधन और मोक्ष के उपादान कारण हैं। इसे स्पष्ट करते हुए आचारांग सूत्र में कहा है—**अणेग चित्ते खलुअयं पुरिसे**—मनुष्य अनेक चित्त वाला है। इस अनेकचित्तता में मन के अनेक रूप समाए हुए हैं। राग-द्वेषात्मक विषय प्रवृत्ति भी इसमें सन्निविष्ट है, जो आत्मा के बंधन का मुख्य कारण बनती है और राग-द्वेष-मुक्त समत्व की शुद्ध परिणति भी सन्निहित है, जो आत्म-मुक्ति का द्वार खोलती है। मन के रूपों का कोई पार नहीं है। किसी ने कहा है—

मन राजा मन बादशाह, मन ही बड़ो वजीर,
ओहिज मन घोड़े चढै, ओहिज बणे फकीर।

मन जब आशा, उत्साह और उमंग के भावों से भरा होता है तो बादशाह—सम्राट बन बैठता है तथा कुण्ठा, निराशा और हताशा के भावों का उद्वेग हो जाए तो इसे निरीह भिखारी बनते भी देर नहीं लगती। आसक्ति में उतरता है, तब गहरा जकड़ा जाता है और जैसे ही मोह-विमुख बनता है—मुक्ति का पथिक बन जाता है। कोई पदार्थ, पद और परिस्थिति बंधन का मूल कारण नहीं है। मन की विभिन्न तरंगें ही मूलतः बंधन-शृंखला बनाती हैं। तरंगों की उपशांति ही मोक्ष की पहचान बढ़ाती है।

गीता में श्रीकृष्ण ने भी इसी सत्य की सशक्त अभिव्यक्ति की है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं मनः।

—मानव मन ही एकमात्र बंधन और मोक्ष का कारण है। मन जब विषयों में आसक्त बनता है, बंधन की कड़ियां जोड़ लेता है। जब विषय-विरक्त और निर्विषय दशा को प्राप्त होता है, तब संसार से मोक्ष की सरणि सीधी-सपाट बन जाती है। मानसिक लुब्धता, क्षुब्धता और मुग्धता-मूढ़ता आदि भाव ही बंधन के कारण हैं और मानसिक अनासक्ति, प्रशांतता, प्रबुद्धता तथा चैतन्य-विशुद्धता मुक्ति के।

सुख-दुख मन का खेल

एक मर्मस्पर्शी व्यंजना है—

सुख-दुख क्या है मनोभावना
जिसने है जैसा जाना

—सुख-दुख, मान-अपमान, निंदा-प्रशंसा, प्रिय-अप्रिय आदि सब मन की कल्पनाएं हैं। चंचल मन की लहरें हैं। कुछ क्षण पहले जहां सुखानुभूति है, क्षणांतर में वहीं दुखानुभूति होने लगती है। आज जो प्राणप्रिय लगता है, कल वह अप्रिय, कटु बन जाता है। यही स्थिति निंदा, प्रशंसा, सम्मान और अपमान की है। यह सब असंतुलित, अव्यवस्थित और चंचल मन का खेल है। आचार्य यशोविजयजी ने समाधि शतक में कहा है—

अपमानादयस्तस्य विक्षेपोयस्य मानसः
नापमानादयस्तस्य नक्षेपो यस्य मानसः।

—अपमान-सम्मान, निंदा-प्रशंसा और हार-जीत आदि विरोधी युगलों की अनुभूतियां उन्हें ही प्रवंचित और परितृप्त करती हैं जिनका मन विक्षेपों-विकल्पों से भरा है—वे चंचल तरंगों से विक्षुब्ध हैं, मन में संतुलन नहीं है। जो सुस्थिर हैं, कल्पनाओं की हवा से आंदोलित नहीं हैं, समत्वपूर्ण एक-रूप हैं—उन्हें प्रिय-अप्रिय, सुख-दुख, अभाव-सहभाव, अनुकूल-प्रतिकूल आदि विरोधी युगल क्षणिक व क्षुद्र भाव उद्वेलित-अशांत नहीं बना पाते।

व्यक्ति, वस्तु या प्रसंग अपने-आप में कुछ भी नहीं होते। मन ही उन पर रंग चढ़ाता है। मन ही अपनी कल्पना से उन्हें नए-नए रूप, आकार-प्रकार देता रहता है। स्वयं मन भी प्रतिक्षण गिरगिट की तरह रंग बदलता रहता है। मन का बिंब ही सामने प्रतिबिंब होता है। सरस-नीरस, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ, प्रिय-अप्रिय, शुभ-अशुभ, दुर्लभ-सुलभ, क्षुद्र-विशाल आदि लाखों विरोधी-युगल सब मन की ही चपल कल्पना हैं।

मन के तीन कार्य माने गए हैं—1. अतीत की स्मृति, 2. वर्तमान का चिंतन, 3. अनागत की कल्पना। मन इन तीनों से घिरा रहता है। संवेदनाएं चलती ही रहती हैं। स्व-संबद्ध संवेदनाएं अधिक होती हैं। पर-पीड़ा व व्यथा की संवेदना किसी उदार संवेदनशील को ही हो पाती है।

मन विभिन्न दृष्टिकोणों का महान पिटारा है। उसकी कल्पनाओं का कोई ओर-छोर नहीं है। हर विषय में उसका विपरीत चिंतन चलता रहता है। सुखात्मक को दुखात्मक तथा दुखात्मक को सुखात्मक बना लेना उसके बाएं हाथ का खेल है। निर्धनता सामान्यतया चिंता व खिन्नताजनक मानी जाती है। वैसे निर्धनता और संपन्नता भी सापेक्ष हैं। अपने से संपन्न व्यक्ति के सामने हर व्यक्ति असंपन्न—निर्धन है, अपने से गरीब के आगे धनवान है। हर विषय और परिस्थिति में यह सत्य समान रूप से लागू है। न्यूनाधिक की सब कल्पनाएं मन की हैं। मन में संतोष व समत्व आते ही ये विकल्प उपशांत हो जाते हैं। कहा है—

मनीस च परितुष्टे कोर्थवान् को दरिद्रः

दुख का आविर्भाव भी मन का ही विकार है। दुख क्लेशदाई ही क्यों हो, अवबोधक भी हो सकता है। श्रीकृष्ण ने पांडव-जननी कुंती को वरदान मांगने को कहा, तब कुंती ने कष्ट की याचना की। उसने कहा—

विपदः सन्तुनः शखद् यत्र तत्र जगद् गुरोः
भवतोदर्शनं यत्स्या-दपुनर्भव दर्शनम्

—भगवन! हमें जहां-तहां जरा कष्ट बना रहे, ताकि शुभ की, श्रेय की, परम की स्मृति बनी रहे। आपका अंतर्ध्यान बना रहे। आपके दर्शन में ही अपुनर्भव, जन्म-मृत्यु से मुक्ति का दर्शन सन्निहित है। यह दुख को प्रेरक और परम पथ बनाने की कला है। कष्ट और कठिनाई व्यक्ति को सजग और सहिष्णु बनाते हैं और उसमें साहस, धैर्य, कार्य-कुशलता, पराक्रम, सत्त्व-निष्ठा आदि अनेक गुण विकसित होते हैं। दुख का आघात जैसे हताश बनाता है, वैसे ही पुरुषार्थ-उद्दीपन का और शक्तिसंपन्न बनने की रश्मियां भी छिटकाता है। मन का जरा-सा मोड़ प्रगति की पगडंडियां खोल देता है।

मन की चंचलता

मन की चचंलता जगत-प्रसिद्ध है। समग्र संसार ही इसकी चंचलता से खिन्न और संत्रस्त है। मानसिक अस्थिरता की स्थिति में कोई भी साधना और सत्कार्य नहीं हो पाता। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र में केशी श्रमण और प्रथम गणधर गौतम के संवाद में चंचल मन पर चिंतन हुआ है। केशी श्रमण ने बड़ी हैरानी से जिज्ञासा की—गौतम! जिस मन के अश्व पर तुम सवार हो, वह बहुत चंचल, दुस्साहसी, भयंकर और दुष्ट है। वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता? इधर-उधर कैसे नहीं भटकाता? तुम उससे परेशान कैसे नहीं होते हो?

अयं साहसिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई
जंसिगोयम आरुढो कहं तेन न हीरसि

—गौतम ने समाधान दिया—मन साहसिक, दुष्ट और भीम है, उन्मुक्त छलांगें भरता है। पर, मैंने ज्ञान की लगाम लगाकर उसे पूर्णतया अपने नियंत्रण में कर रखा है। मेरे संकेत के बिना वह एक कदम भी नहीं चल सकता। जब भी मैं चलाता हूं—सन्मार्ग में ही चलता है। मेरे प्रशिक्षण से वह उत्तम बन गया है—

पथावंतं निगिण्हामि सुयरस्सी समाहियं
न मे गच्छइ उम्मग्गं मग्गं च पडिवज्जई

गीता में अर्जुन श्रीकृष्ण को अपनी विवशता बता रहा है—

चंचल हि मनः कृष्ण! प्रमाथिबलवत् दृढ़म्
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायुरिवसुदुष्करम्।

—कृष्ण! मन बहुत चंचल है। विकट रूप से मथने वाला है। उसका निग्रह मैं तो वायु-नियंत्रण की तरह दुष्कर

मानता हूं। श्रीकृष्ण ने भी मन की चपलता को स्वीकार किया है—

असंशयं महाबाहो! मनोदुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते।।

—वीर अर्जुन! निःसंदेह मन दुर्निग्रह और चंचल है। पर, मन सतत अभ्यास और जाग्रत वैराग्य से वश में किया जा सकता है। श्रेष्ठ साधक भी इसकी अस्थिरता, उच्छृंखलता और जोर-जबरदस्ती से व्यथित है। कहा है—

मन सब पर असवार है, मन का मता अनेक
जो मन पर असवार है, वह लाखन में एक

विवेक चूड़ामणि में मन को महाव्याघ्र माना है, जो विषयारण्य की भूमि में स्वच्छंद घूमता-भटकता है। सफलता, शांति का इच्छुक उधर न जाए। मन की चंचल वृत्तियां ही व्यथा व दुख का कारण बनती हैं। धम्मपद में सोदाहरण उल्लेख किया है—

यथागारं दुच्छन्नं बुद्धि समति विज्जति
एवं अभावितं चित्तं दुक्खं समति विज्जति

—जैसे मकान की छत अच्छी तरह से आच्छादित न की जाए तो उसमें वर्षा का पानी प्रविष्ट हो जाता है, गृहवासियों को परेशानी उठानी पड़ती है। वैसे ही अभावित, असंस्कारित, अनियंत्रित चित्त में ही दुख घुसता है।

मन की चंचलता की अनेकानेक दशाएं हैं। सब ही क्षुब्ध और अस्त-व्यस्त करने वाली हैं। मानसिक और भावात्मक शांति की विनाशक हैं, सभी अवांछनीय हैं। उत्तप्तता, मलिनता, कठोरता, मुग्धता और अस्थिरता आदि दशाएं तो बहुत भयावह, खतरनाक और विनाशकारी हैं। मन की इन दशाओं से क्रूरता, कट्टरता, मूढ़ता, उन्मत्तता, अक्खड़ता, अधीरता और निर्दयता आदि भयंकर दोष व्यक्ति को जकड़ लेते हैं। उसका सारा लचीलापन, मिलनसारिता, सहअस्तित्व का भाव और संवदेनशीलता आदि मानवीय गुण स्वाहा हो जाते हैं। पूरा व्यक्तित्व ही विकृत हो जाता है।

परम प्रयोजन—आत्मसमाधि

मनुष्य का परम प्रयोजन है—आत्मसमाधि की प्राप्ति, दुख से सर्वथा मुक्ति। किंतु, मन की द्वंद्वात्मक स्थिति के कारण दुख से एकांत छुटकारा नहीं मिलता, क्षणिक सुख-दुख का जोड़ा बना ही रहता है। सुख-दुख का चक्र चलता ही रहता है। ऐसा कोई पंथ नहीं होता जिसमें बिल्कुल भी उतार-चढ़ाव और मोड़ न आएं। हर जीवन में काल, क्षेत्र, पदार्थ और वातावरण कृत स्थितियां बनती-बिगड़ती रहती हैं। अभिज्ञान शाकुंतलं में कवि शिरोमणि कालिदास ने कहा है—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततोवा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण

—चलते रथ के चक्के के समान जीवन की दशाएं ऊंची-नीची होती ही रहती हैं। चक्के के ऊपर वाला भाग नीचे जाता है और नीचे वाला ऊपर आता है। यह निरंतर का क्रम है। कौन मनुष्य एकांततः सुख पाता है और कौन केवल दुख ही दुख। आकाश में ऊपर चढ़ा, सब प्रकार से समृद्ध भी रसातल में गिर जाता है और नीचे रसातल वाला, अभावग्रस्त ऊपर उठ जाता है। क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। जीवन का स्वरूप ही ऐसा है। अपनी पुस्तक 'मिणकला' में कविचेता—मुनि बुद्धमलजी ने बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

चांद सरीखो भाग मिनख रो, नितरी घट बढ़ होवै।
मावस पूनम दोन्यूं आवै, के हांसै के रोवै?

—मनुष्य का भाग्य चांद के समान है। चंद्रमा में निरंतर घट-बढ़ होती है। कृष्ण पक्ष में उसकी प्रकाश कलाएं घटती चली जाती हैं। अमावस्या की काली रात आ जाती है, पर अगली रात बढ़नी प्रारंभ होती है, रोज बढ़ती चली जाती है। शुक्ल पक्ष में पूरी रात्रि पूर्णिमा की दिव्य चांदनी छिटकी रहती है।

इसी तरह मानव के जीवन में भी प्रतिदिन उलट-फेर होता रहता है। निरंतर उतार-चढ़ाव का दौर चलता रहता है। ऐसी क्षणिक स्थितियों में क्या खुशी और क्या विषाद करे!

जीवन अभाव-भाव, रात-प्रभात, लगाव-दुराव, संयोग-वियोग और सुख-दुख आदि अनेक विरोधी पहलूओं का मिश्रण है। किस पहलू की सघनता से अनुभूति होती है—यह मन के रुझान पर निर्भर करता है।

संसार के सब प्राणियों को सुख अभीष्ट है। दुख अप्रिय है, पीड़ादायक है। किंतु, संसार में निर्धन, धन-संपन्न, शक्तिशाली, कमजोर, चतुर अथवा मूर्ख, किसी को भी मनोवांछित निर्विघ्न सुख प्राप्त नहीं है। सब असंतुष्ट हैं, दुखी हैं।

यह सब मनोभावना का ही परिणाम है। विकल मन, विकल अनुभूति ही करता है। उसके बेचैनी बनी ही रहती है। कहा है—

'अव्यस्थित चित्तस्य न जने न बने सुखम्'

अशांत मन वाला अकेला हो भले भीड़ से घिरा हो, वह कैसा भी वेष बना ले, कुछ भी पा जाए—मन शांत नहीं होता।

व्यथाओं की जड़ मन की चपलता

मन की चपलता, गतिशीलता और अशांत वृत्तियां बहुत उलझनें बढ़ाती हैं। व्यक्ति को विभिन्न तनावों से संतप्त और संत्रस्त बना डालती हैं।

सांसारिक वस्तुओं में, धार्मिकों एवं साधकों की अवधारणा में तो सर्वाधिक चंचल, गतिशील और तरंगित मन है ही, मनोवैज्ञानिकों ने भी मन पर बहुत व्यापक अनुसंधान किए हैं। उन्होंने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।

विज्ञान के अनुसार प्रकाश का वेग एक सेकिंड में 1 लाख 86 हजार मील है, विद्युत का वेग 2 लाख 89 हजार मील है, जबकि मन के विचारों का वेग 32 लाख 65 हजार मील है। धार्मिकों ने ही नहीं, वैज्ञानिकों ने भी मन की उड़ान के विषय में यही निष्कर्ष निकाला है। मानसिक वृत्तियां हर क्षण बदलती हैं। विश्व के सामने मूल समस्या मानसिक ही है। मन ही उड़ानें भरता है। मन ही अहं उभारता है। मन ही ऊंची-ऊंची उपाधियां चाहता है। मन ही संसार की संपदा बटोरता है। मन लोगों को चक्री चढ़ाए रखता है। कठपुतली बनाकर इच्छित नाच-नचाता है। मन की चंचलता से व्यक्ति बहुत उद्वेलित, व्यथित एवं दुखी रहता है। दिमागी भार उसे क्षण-भर भी हल्का नहीं बनने देता। जिसने जितनी ज्यादा भौतिक वस्तुएं जोड़ी हैं, वह उतना ही अधिक व्यग्र और चिंतित रहता है।

मन को साधें

मन अनेकानेक प्रचंड शक्तियों का स्रोत है। मन की शक्तियां अकल्पनीय एवं अनुपमेय हैं। ऐसे शक्तिसंपन्न मन को साधना बहुत आवश्यक है। सधा हुआ मन सिद्ध किए हुए मंत्र के समान फलदायक होता है। सतत साधना से मन स्थिर, शांत, निश्चल, निर्मल, निष्कंप एवं नियंत्रित बन जाता है। उसकी चंचलता, स्वच्छंदता और स्वेच्छाचारिता समाप्त हो जाती है। वैसे मन पर विजय पाना बड़ी टेढ़ी खीर है।

मन को साधने का, संस्कारित, अनुशासित एवं पवित्र बनाने का कोई उपाय नहीं है, उसे अंतर के प्रबुद्ध व जाग्रत मन से विशुद्ध बनाना पड़ता है। आचार्यों ने कहा है—**चित्तं चित्तेन संशोध्यं**—चित्त चित्त के द्वारा ही संशोधनीय और प्रबोधनीय है। यह बहुत अभ्यंतर प्रक्रिया है। यह आंतरिक चेतना का रूपांतरण है।

मन बहुत शक्तिशाली है। सामान्यतः कोई तत्त्व उसका निग्रह नहीं कर सकता। संस्कृत ग्रंथ में मार्मिक उल्लेख है—

मन एव समर्थोहि मनसो दृढ़ निग्रहे
अराज्ञा कः समर्थः स्यादराज्ञो निग्रह कर्मणि।

—मन ही मन पर दृढ़ नियंत्रण करने में समर्थ होता है। दूसरा कोई नहीं। राजा पर विजय पाने के लिए राजा के सिवाय कौन सक्षम है? नृपति को नृपति ही जीत सकता है। अन्य कोई सामान्य मनुष्य नहीं।

मन की आंतरिक शुचिता और विश्लेषण-वृत्ति जब प्रखर बनती है, तब ही मन अपनी चपलता, गतिशीलता और आवेशवृत्तियों पर लगाम लगाता है। यह मन से परे चेतना की अवस्था है। मन से ऊपर उठने पर ही हमारे जीवन में फूल खिलते हैं। हमारे व्यक्तित्व में भव्यता, दिव्यता, समग्रता और व्यापकता आती है।

मन को साधने का अर्थ है—मन को एकाग्र, शांत और पूर्ण निग्रहित—नियंत्रित बना लेना। इसने जगत को दास बना रखा है। इसे दास बना लेना। चित्त-वृत्तियों को निरुद्ध कर देना।

जब मन संकल्प-विकल्प, स्मृतियों एवं कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है, तब वह अमन बन जाता है। अमन की दशा में सब वृत्तियां विलीन हो जाती हैं। मन की कोई हलचल नहीं रहती। कोई चिंतन नहीं चलता, शुद्ध चेतना रहती है। चेतना की सघन स्थिरता हो जाती है, यह ध्यान की अवस्था है। आत्मोदय की दशा है।

मन को साधने के प्रयोग

मन को निर्विचार, निर्विकार, निर्द्वंद्व और निष्कंप बनाने के कई प्रयोग हैं। प्रत्येक प्रयोग में अंतरंग की निष्ठा, सघन आत्म-विश्वास और निरंतर की अभ्यास-प्रक्रिया अपेक्षित है। आंतरिक संकल्प बहुत सूक्ष्मता से भीतर-ही-भीतर बदलाव ला देता है। पर, साधना में नियमितता और दीर्घ समय तक जागरूकता से अभ्यास करना जरूरी है। यहां दो प्रयोगों का दिग्दर्शन किया जा रहा है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा

मन का श्वास के साथ अत्यंत गाढ़ संबंध है। मन की

स्थिरता और चंचलता श्वास पर ही निर्भर है। हठ योग प्रदीपिका में ठोस भावाभिव्यक्ति की है—

चले वाते चलंचित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्
योगीस्थाणुत्त्व मापनोति ततो वायुं निरोधयेत्

—श्वास की चंचलता में चित्त भी चंचल बन जाता है और श्वास की निश्चलता में निश्चल। योगी प्राणायाम के माध्यम से श्वास निरोध कर स्तंभ (खंभे) के समान एकदम निष्कंप हो जाता है। इसलिए मानसिक निश्चलता के हेतु श्वास वायु का निरोध करें।

श्वास निरोध की, श्वास को साधने की प्रक्रिया जटिल एवं गहन है। एकदम नाक-मुंह को बंद करके श्वास को रोक देना नहीं है। धीरे-धीरे विधिपूर्वक श्वास पर नियंत्रण जमाना होता है। अन्यथा बहुत भारी खतरा हो सकता है। संस्कृत श्लोक में मर्मोद्घाटन किया है—

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो, भवेद् वश्यः शनैः शनैः
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्।

—जैसे सिंह, हाथी और खूंखार बाघ को विभिन्न उपायों से शनैः शनैः वश में किया जाता है, वैसे ही श्वास-वायु को भी धीरे-धीरे नियंत्रित करना चाहिए। अन्यथा वह कुपित वायु साधक को ही समाप्त कर देती है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा मन को निरुद्ध व मनोवृत्तियों को पूर्ण निश्चल, शांत बनाने की अचूक प्रक्रिया है। यह महर्षि पतंजलि के योगशास्त्र में वर्णित प्राणायाम प्रक्रिया से भी अधिक व्यवस्थित एवं प्रभावकारी है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा में श्वास की चार क्रियाएं बहुत जागरूकता से, तन्मयता से संपन्न करनी पड़ती हैं। चारों क्रियाओं में मन ऐसा बंध जाता है कि इधर-उधर हिल-डुल भी नहीं सकता। उस समय मन में कोई विकल्प-संकल्प उठने की संभावना नहीं रहती। पतंग के पीछे जैसे डोर चलती है, उसी तरह मन श्वास प्रक्रिया के साथ जुड़ जाता है। श्वास भीतर तो चित्त भी भीतर, श्वास बाहर तो चित्त भी बाहर। यहां श्वास लयबद्ध बन जाता है। सघन प्रयास रहे। जितना समय श्वास लेने में लगे, उतना ही समय श्वास छोड़ने में लगे। यह प्रक्रिया संकल्प शक्ति के सहारे करें। यदि वैसा संभव न हो तो अंगुलि और अंगूठे के सहयोग से करें।

समवृत्ति श्वास प्रक्रिया की चार क्रियाएं हैं—

प्रथम—दाएं नथुने से पूरक, अंतर् कुंभक

दूसरी—बाएं नथुने से रेचन, बाह्य कुंभक

तीसरी—बाएं नथुने से पूरक, अंतर् कुंभक

चौथी—दाएं नथुने से रेचन, बाह्य कुंभक

सजगता से की जाने वाली इन क्रियाओं में मन ऐसा अनुस्यूत एवं तन्मय बनता है कि संकल्प-विकल्पों की समस्त तरंगें एकदम शांत हो जाती हैं। मन के सब स्पंदन विलीन हो जाते हैं। प्रक्रिया की गहराई में मन का सघन निरोध हो जाता है।

समवृत्ति श्वास प्रेक्षा मन को निरुद्ध करने की प्रक्रिया है, इसमें कोई चिंतन नहीं है। सहजता से श्वास प्रक्रिया है। अंतर् कुंभक या बाह्य कुंभक—कहीं पर भी मन विलीन हो सकता है।

अनुप्रेक्षा प्रयोग

मन को साधने का दूसरा प्रयोग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा प्रेक्षाध्यान की ही एक प्रक्रिया है। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—भ्रांत-धारणाओं से मुक्त होकर सत्य के प्रति समर्पित होना। प्रेक्षा में दृष्ट सत्य को जीवन में मूर्त बनाना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा बाहुल्य से, बिखराव से छुटकारा पाने का उपाय है। यह रूपांतरण का बहुत सघन प्रयोग है। रूपांतरण होता है—प्रगाढ़ भावना से। तनिक ताप से कोई चीज नहीं पिघलती। प्रखर उत्ताप से ही धातुएं पिघलती हैं। मनुष्य भी जब प्रबल भावना-वेग से भावित होता है, तब उसमें बदलाव आता है। यह गहरी मानसिक एकाग्रता का प्रयोग है।

अनुप्रेक्षा में मन विभिन्न विकल्पों से हटकर एकाग्र चिंतन में तन्मय बनकर एक ही लक्ष्य में निमग्न हो जाता है। उसकी शक्ति घनीभूत हो जाती है। यह एकाग्र चिंतन उत्तरोत्तर सूक्ष्म बनकर बहुत वेधक बन जाता है। वांछित विकास और बदलाव के लिए सक्षम होता है।

मानवीय एकता, सांप्रदायिक सद्भाव, सहिष्णुता, धैर्य और मानसिक संतुलन आदि विभिन्न सद्गुणों के विकास की संजीवनी बूंटी है—अनुप्रेक्षा।

स्वभाव-परिवर्तन और आदतों का बदलाव भी इस भावना प्रयोग से एकाग्र चिंतन धारा से यथेष्ट किया जा सकता है।

एकाग्र भावना के स्पंदन विद्युत्-करंट का-सा कार्य करते हैं। वे हमारे नाड़ी तंत्र, ग्रंथि तंत्र और सूक्ष्म कोशिका तंत्र को अभीष्ट के लिए समग्रता से परिस्पंदित व रूपांतरित करते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी चिकित्सा के क्षेत्र में अनुप्रेक्षा पद्धति का प्रयोग कर रहा है। विज्ञान की भाषा में इसका नाम है—'सजेस्टोलॉजी'। इसका अर्थ है—सुझाव देना, विशिष्ट विकास या कोई भाव-परिवर्तन के लिए एकाग्र घनीभूत भावना से सुझाव देना। मनोवैज्ञानिक डाक्टर रुग्ण व्यक्ति को जैसा संकेत देते हैं, वैसा ही व्यक्ति पर प्रभाव होता चला जाता है। साधारण-सी दवा खास रसायन के नाम से दी जाए तो वह भावना के आंचल में लिपटी, भावना से भावित उस रसायन का कार्य कर जाती है। व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है।

सुझाव कोई दूसरा सक्षम व्यक्ति भी दे सकता है और स्वयं भी स्वयं को सुझाव दे सकता है। यह आत्म-संकेत (ऑटोसजेशन) की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे अनूठी कार्य-क्षमता, कार्य-निपुणता और आत्मानुशासिता उभारी जा सकती है।

❖

संतति–उत्पादन यदि सामाजिक दृष्टि से अनुपादेय भी हो जावे तो भी हम उसको कृत्रिम साधनों से रोककर लाभ नहीं उठा सकेंगे। संयम ही संतति–निरोध का प्रथम और अंतिम कारगर उपाय है।

भोग भोगकर और फिर भी किसी चतुराई से प्रजनन को रोककर लोग अपने पैरों कुल्हाड़ी ही मारेंगे। मनुष्य को एकत्रित भाव में रखने वाली वस्तु है नैतिकता। कृत्रिम निरोध अनैतिक है।

लेकिन, प्रकृति के कामों के बारे में हम भ्रम में न रहें। बरसात होती है तो चारों ओर कितनी हरियाली दीखती है! जाने कितने प्रकार के पौधे धरती फोड़कर अपना सिर ऊपर उठाते हैं! लेकिन क्या वे सब ही जीते हैं? अधिकांश उनमें उगते नहीं कि मर भी जाते हैं। कुछ विरले ही उनमें पुष्ट वृक्ष बनने का अवसर पाते हैं। क्या यहां हम यह कहें कि प्रकृति ने उन पौधों को उगाकर पाप किया जिनको आगे जाकर वृक्ष नहीं बनाना था? यह कहना मेरी समझ में कोई विशेष महत्त्व की बात न होगी।

तब फिर पाप–पुण्य की कैसी विवेचना और कैसा समाधान! कानून बनाकर प्रजनन नहीं रोका जा सकता। जिस हद तक रोका जाएगा, उसी अनुपात में अनाचार भी फैलेगा। हम काम–प्रवृत्ति को कुचलकर नष्ट नहीं कर सकते और न उसके परिणाम को नष्ट कर सकते हैं। हां, उस वृत्ति को अधिक चरितार्थता के मार्ग पर डाला जा सकता है, और उसके फल को भी उन्नत किया जा सकता है। सृजनशील कला (creative art) वासना का सात्त्विक रूप (sublimated passion) है। क्या यह कहना गलत होगा कि जिसको प्रतिभा कहा जाता है, वह भी उसी मूल (काम) शक्ति का परिवर्तित (उन्नत) प्रकार है?

—जैनेंद्र कुमार

माफ करदो चिड़िया

प्रतिभानाथ

'पिंकी की बात सुनकर नानी को भी बहुत अफसोस हुआ। कहने लगीं—'यह तो ठीक है बेटी कि मैं घर बहुत साफ-सुथरा रखती हूं! पर मेरी बच्ची, मैं किसी के घोंसले को कभी नहीं तोड़ती। तुमने घोंसले को सुरक्षित स्थान पर रखने की बात तो ठीक सोची, लेकिन तुम्हें यह पता नहीं कि इन पक्षियों की एक खास आदत होती है। कोई इनके घोंसले को यदि छू लेता है तो वे फिर उस घोंसले के पास नहीं जाते। बस, तुमसे अनजाने में यही गलती हो गई!''

पिंकी रसोईघर की खिड़की के पास खड़ी थी। खिड़की से सामने का मैदान और उसमें खड़ा बहुत ही घना एक पेड़ दिखाई दे रहा था। पेड़ पर बहुत-से पक्षियों के घोंसले थे। पिंकी हर रोज पेड़ की डाल पर फुदकते, चहचहाते और हरे-हरे पत्तों में लुका-छिपी करते पक्षियों को देखती रहती। सुबह-सुबह सभी पक्षी चहचहाते हुए खूब शोर मचाते हैं। उनकी आवाजें शुरू होते ही पिंकी रसोईघर में आ खड़ी होती। अभी वह आकर खड़ी हुई थी कि नानीमां ने पुकारा—'पिंकी, तुमने अभी तक अपना बिस्तर ठीक नहीं किया?'

'आती हूं नानीमां, अभी आती हूं,'—पिंकी ने जवाब दिया। पिंकी आजकल छुट्टियों में नानी के पास आई हुई है। पिंकी की नानी घर-बाहर का हर काम ठीक समय पर और खुद अपने हाथों से करने में विश्वास रखती हैं और वह यही चाहती हैं कि बच्चे भी अपना काम खुद करें। पिंकी को नानीमां बहुत अच्छी लगती हैं, पर उनकी बार-बार की यह टोका-टाकी उसे अच्छी नहीं लगती।

पिंकी ने देखा कि एक चिड़िया—भूरे रंग की छोटी-सी चिड़िया—कई तिनके एक साथ उठाए जा रही है। चिड़िया उसकी खिड़की की तरफ आई और फिर आगे निकलकर मुड़ गई। चिड़िया मुड़ गई, इसलिए पिंकी देख नहीं पाई कि वह कहां गई।

पिंकी रसोई से निकलकर अपने कमरे में चली आई।

'पिंकी, रसोई में तुम क्या कर रही थी?'—नानी ने पूछा।

'नानीमां! मैं एक चिड़िया को देख रही थी। वह बहुत-से तिनके एक साथ ले जा रही थी। शायद वह कहीं घोंसला बना रही होगी।'

'इस मौसम में सभी चिड़ियां घोंसला बनाती हैं। पर, बेटी! यह चिड़ियां देखने का तो समय नहीं था। चलो, कमरा ठीक करो और फिर

नहाने के लिए चली जाओ।'—नानी ने पिंकी से कहा और अपनी अलमारी ठीक करने लगीं।

पिंकी जब से नानी के घर आई है, अपना सारा काम करती है और अपना कमरा भी खुद ही साफ करती है। इसके अलावा रसोईघर में नानी का हाथ भी बंटाती है।

नानी के मकान की ऊपरी मंजिल पर एक बड़ा-सा कमरा है। यह कमरा पिंकी के नानाजी का था। कमरे की तीन दीवारों में छत तक ऊंची अलमारियां बनी हुई थीं, जिनमें किताबें ही किताबें भरी हुई थीं। नानाजी को किताबें बहुत पसंद थीं। वह बहुत पढ़ते थे। वह किताबों को अपना एक अच्छा मित्र मानते थे। जबसे नानाजी का स्वर्गवास हुआ है, नानीजी कमरे को हमेशा बंद ही रखती हैं। हर रोज सफाई करके कमरा बंद कर देती हैं। वह इस कमरे में किसी को भी नहीं जाने देतीं। पिंकी अपना काम करके छत पर गई। वह ढूंढ़ रही थी कि चिड़िया आखिर कहां गई। उसने सोचा—'लगता है चिड़िया इस कमरे में ही घोंसला बना रही है।' पर, वह उसे देखने के लिए कमरे के अंदर कैसे जाए? तभी उसने देखा—रोशनदान के टूटे शीशे से एक चिड़िया बाहर निकल रही है। उसकी चोंच खाली थी। पिंकी को पक्का विश्वास हो गया कि चिड़िया इसी कमरे में अपना घोंसला बना रही है। उस दिन से पिंकी उस चिड़िया और उसके साथी चिड़े को रोज देखती। वे दोनों घास के तिनके कमरे में ले जाते। दोनों अपने बच्चे के लिए घोंसला बनाने में खूब मेहनत कर रहे थे। वे घोंसले को गुदगुदा-गद्देदार बनाने के लिए धागे के टुकड़े, रुई और नरम-नरम पत्तियां भी ले जाते थे।

एक दिन पिंकी ने सोचा कि मुझे इनकी सहायता करनी चाहिए। नानी को अगर पता चल गया कि वे नानाजी के कमरे में घोंसला बना रहे हैं, तो वह घोंसला तोड़कर फेंक देंगी। इसलिए उनके फेंकने से पहले ही मैं घोंसला दूसरी जगह रख दूं। इससे चिड़ियों का घोंसला भी बच जाएगा और दूसरा घोंसला बनाने की मेहनत भी बच जाएगी।

परंतु, यह कोई आसान काम नहीं था। क्योंकि, नानाजी के कमरे में तो हमेशा ताला लगा रहता था। उसकी चाबी नानी के पल्लू में बंधे गुच्छे में रहती थी। लेकिन, पिंकी यह भी जानती थी कि नानी जब नहाने जाती हैं, तब चाबी का गुच्छा मेज पर रख देती हैं। यह काम उसी समय हो सकता है।

अगले दिन सुबह पिंकी ने जल्दी उठकर अपने कमरे की साफ-सफाई कर डाली। रसोई के छोटे-मोटे कई काम भी निपटा दिए। फिर, जैसे ही नानी चाबी रखकर नहाने गईं कि पिंकी ने चाबी का गुच्छा उठा लिया और दौड़ती हुई ऊपर जा पहुंची। उसने जल्दी से कमरे का ताला खोला। कमरे में चारों तरफ देखा। पलंग के पास, खिड़की में, मेज के नीचे सब तरफ देखा—पर, उसे घोंसला कहीं नहीं दिखा। पिंकी परेशान हो उठी। तभी उसने देखा चिड़ा और चिड़िया चोंच में तिनके दबाए अंदर आए और सीधे अलमारी के सबसे ऊपरी खाने के पीछे चले गए।

'ओह! तो वहाँ बनाया है तुमने अपना घोंसला।'—पिंकी ने मन ही मन में कहा।

वहां, उतनी ऊंचाई तक उसका हाथ नहीं जा सकता था। पिंकी ने सोच-विचार में जरा-सा भी समय नहीं गंवाया। वह झटपट मेज पर चढ़ गई। मेज पर चढ़कर अलमारी के एक खाने से दूसरे खाने में चढ़कर उसने घोंसला उतार ही लिया। फिर नीचे उतरकर मेज को ठीक किया। कमरे का ताला लगाया। नीचे आकर चाबी का गुच्छा वापिस कमरे में आकर मेज पर रखा। नानी अभी नहाकर बाहर नहीं निकली थीं।

वह घोंसला उठाए अपने कमरे में आई। अब उसने गौर से घोंसले को देखा। उसमें पत्तियां, रुई व धागे इतने अच्छे ढंग से लगाए गए थे कि वह अंदर से बहुत गुदगुदा और मुलायम हो गया था। अब वह इस घोंसले को किसी सुरक्षित जगह पर रखना चाहती थी। घोंसला बाहर के नीम के पेड़ पर सुरक्षित रह सकता था, लेकिन वह बहुत ऊंचा था। उस पर वह उसे नहीं रख सकती थी। बहुत सोचने के बाद उसने घोंसले को अपने कमरे की खिड़की के ऊपर रख दिया। उसने सोचा, 'यहां घोंसला सुरक्षित भी रहेगा और वह

चिड़िया के छोटे-छोटे बच्चों को भी देख सकेगी!'

थोड़ी देर बाद पिंकी जब बरामदे में आई तो उसने देखा, वे दोनों चिड़ा-चिड़िया 'चीं-चीं, चीं-चीं' करते हुए फुदक-फुदक कर शोर मचा रहे थे।

पिंकी ने उनसे कहा—'चलो, तुम दोनों मुझे धन्यवाद दो। जाओ देखो, मेरे कमरे की खिड़की के ऊपर तुम्हारा घोंसला सुरक्षित स्थान पर रखा हुआ है।'

उन चिड़े-चिड़िया ने पिंकी की कोई बांत नहीं सुनी। वे दोनों 'चीं-चीं, चीं-चीं' करते हुए अपने घोंसले के लिए शोर मचाते रहे और अंत में हार-थककर दुखी होते हुए उड़ गए।

अगले दिन सुबह पिंकी नानी के साथ ऊपर जब कमरे की सफाई करने पहुंची तो उसने देखा चिड़ा-चिड़िया दोनों छत की रेलिंग पर चुपचाप उदास बैठे थे।

नानी ने कमरे का दरवाजा खोला। अरे! ये क्या? पिंकी ने देखा फर्श पर दो अंडे पड़े थे। एक टूटकर बिखर गया था और दूसरा चटका हुआ था।

अंडे को देखकर नानी को गुस्सा आ गया। बोलीं—'ये कौन बेवकूफ चिड़िया है, जिसने घोंसले बनाए बिना ही अंडे दे दिए हैं?'

'नहीं, नानीमां नहीं!' पिंकी रुआंसी हो गई। बोली—'चिड़िया ने तो घोंसला बनाया था, पर मैंने ही उसे हटा दिया!'—कहकर पिंकी रोने लगी।

'तुमने कैसे हटा दिया? मुझे बता, क्या बात है बेटी?'—नानी ने उसके सिर पर हाथ फेरा।

पिंकी ने सारी बात बता दी।

पिंकी की बात सुनकर नानी को भी बहुत अफसोस हुआ। कहने लगीं—'यह तो ठीक है बेटी कि मैं घर बहुत साफ-सुथरा रखती हूं! पर मेरी बच्ची, मैं किसी के घोंसले को कभी नहीं तोड़ती। तुमने घोंसले को सुरक्षित स्थान पर रखने की बात तो ठीक सोची, लेकिन तुम्हें यह पता नहीं कि इन पक्षियों की एक खास आदत होती है। कोई इनके घोंसले को यदि छू लेता है तो वे फिर उस घोंसले के पास नहीं जाते। बस, तुमसे अनजाने में यही गलती हो गई!'

'यह बात तो मैं नहीं जानती थी, नानीमां!'—पिंकी सुबकने लगी। फिर बोली—'अब मैं इन चिड़ियों के बच्चों को देख नहीं पाऊंगी।'

'नहीं, क्योंकि ये अंडे तो टूट गए न! अब इनमें से बच्चे कैसे निकलेंगे? अब तो अगले साल ही ये चिड़ियां अपना घोंसला बनाएंगी और उसमें अंडे रखेंगी, जिनमें से छोटे-छोटे बच्चे निकलेंगे, तभी तुम उन्हें देख पाओगी। लेकिन, फिर कभी घोंसला मत छूना!'

'नहीं, नानीमां! अब मैं कभी किसी का घोंसला नहीं छुऊंगी!'—कहते हुए पिंकी ने अपनी आंखें पोंछीं और रेलिंग पर फिर आ बैठी चिड़ियों से कहने लगी—'चिड़ियो, चिड़ियो! मेरी अच्छी चिड़ियो! मैंने तुम्हारा घोंसला छुआ, इसके लिए मुझे माफ कर दो!' ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

With best compliments from :

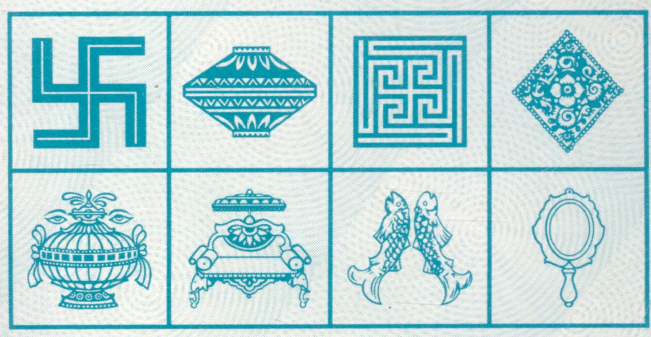

HEMRAJ SAMSUKHA

Vineet Texfab Ltd.

101, Mamulpet, Bangalore 560053

Phone : (O) 22872355, 22253276, (R) 25534815

जैन भारती, नवंबर, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।